भारतीय संस्कृति

का

उत्थान

डा० रामजी उपाध्याय एम० ए० डी० फिल० (प्रयाग)
विश्वविद्यालय
सागर

प्रकाशक
रामनारायण लाल
प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता
इलाहाबाद

प्रथम संस्करण,
१ म २१२

मूल्य २।।)

मुद्रक—
मुंशी रमजान अली शाह
नेशनल प्रेस प्रयाग

समर्पण

भारतीय संस्कृति के उन्नायक
यशस्वी राजनीतिज्ञ और साहित्यकार
माननीय डा० द्वारका प्रसाद मिश्र
के
कर-कमलों में

भूमिका

'भारतीय संस्कृति का उत्थान' इस देश की प्राचीन विचार-धारा का इतिहास है। प्राचीन काल में भारत के मनीषियों ने चिन्तन करके मानव-जीवन का उद्देश्य निश्चित किया और उस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये मानव के व्यक्तित्व के विकास की योजनायें बनाईं। उनकी विचार-धारा का स्रोत वेद, उपनिषद्, रामायण, महाभारत, स्मृति और पुराण आदि में प्रवाहित हुआ। इन ग्रन्थों का आज भी भारत में समुचित आदर है, पर इनके पढ़ने वालों की संख्या स्वल्प है। प्रस्तुत पुस्तक में उसी विचार-धारा का सामान्य किन्तु लोकोपयोगी परिचय देने का प्रयास किया गया है।

आज विश्व में अनेक विचार-धारायें हैं, जिनके अनुकूल किसी मानव या राष्ट्र का विकास हो सकता है। ऐसी परिस्थिति में प्रश्न होता है—प्राचीन विचार-धारा की चिन्तना क्यों की जाय ?

निःसन्देह प्राचीन होने के बल पर कोई वस्तु आदरणीय नहीं हो जाती और न नवीन होने से ही वह उपेक्षणीय होती है। हमें इस सम्बन्ध में केवल इतना ही कहना है कि प्राचीन विचार-धारा में अवगाहन करना होगा, उस धारा को गौरव देने के लिये नहीं, अपितु अपने आपको ही गौरवान्वित करने के लिये। प्राचीन भारत में विश्व-कल्याण की ज योजना

गौतम बुद्ध, अशोक, कालिदास, शंकराचार्य आदि ने बनाई थी, उसके समकक्ष योजना कदाचित् आज तक विश्व-प्रांगण के किसी अन्य कोने में नहीं बनी। उसी के बल पर भारत के प्रति सारा संसार नतमस्तक था। उस भारतीय योजना में चिरन्तन सत्य है, वह अमर है। आज भारत को ही नहीं, सारे संसार को उससे लाभ उठाना है।

भारत को आज चरित्र-बल की आवश्यकता है, जिससे वह विश्व की शान्ति-योजना के निर्माण में पुन: नेतृत्व कर सके। इस दिशा में प्राचीन संस्कृति की बड़ी उपयोगिता है। उससे हमें शान्तिमयी प्रगति का सन्देश मिलता है। वह हमारे अभ्युदय के अपरिचित मार्ग में, अशान्ति और सन्देह के अंधकार में दीपावली की भाँति प्रकाश करके उत्साह-संवर्धन करती है।

भारत विस्तृत भूभाग है। प्राचीन काल अनादि है। इस देश के विभिन्न भागों में किस समय मानव-व्यक्तित्व का विकास किस दिशा में हुआ—यह सब पूर्ण रूप से जान लेना असंभव है। फिर भी भारतीय संस्कृति की सामान्य रूप-रेखा समझ लेना सरल है।

'भारतीय संस्कृति का उत्थान' मेरी पहले लिखी हुई पुस्तक 'भारत की प्राचीन संस्कृति' के लिये सोपान-स्वरूप है। इसमें प्राय: नई बातों का समावेश किया गया है तथा विषय-प्रतिपादन की शैली साधारण पाठकों और विद्यार्थियों को ध्यान में रख कर सरल रखी गई है। मेरा विश्वास है कि यह पुस्तक भारत की प्राचीन संस्कृति के अध्ययन के प्रति पाठकों की रुचि जागरित कर सकेगी।

सागर,
सितम्बर, २५, १९५० } रामजी उपाध्याय

विषय-सूची

संस्कृति की परिभाषा

हमारी पृथ्वी आरम्भ में अपनी अग्नि के कारण सूर्य की भाँति तप रही थी। उस समय पृथ्वी पर चराचर—मानव, पशु-पक्षी अथवा वृक्ष कुछ भी नहीं थे। करोड़ों वर्षों में यह पृथ्वी इतनी ठंडी हो सकी कि उस पर जल ठहरने लगा। उसी जल से घास और जल-जन्तुओं की सृष्टि हुई। सृष्टि की विकास-परम्परा में मानव उत्पन्न हुआ। पृथ्वी की इस परिवर्तनमयी रूप-रेखा का निर्माण और विकास प्राकृतिक है। प्रकृति के द्वारा ही यह पृथ्वी सागर, नदी, झील, पर्वत, वन तथा विविध जीव-जन्तुओं से अलंकृत की गई। सृष्टि का उपर्युक्त विकास करोड़ों वर्षों में सम्पन्न हुआ है। हमारी पृथ्वी की रूप-रेखा बदलने की दिशा में प्रकृति का प्रयत्न सदा रहा है और रहेगा। विश्व की जो रूप-रेखा हम आज देख रहे हैं, उसके निर्माण करने में प्रकृति के अतिरिक्त मानव का बहुत बड़ा हाथ रहा है। यदि पृथ्वी पर मानव नहीं होते तो वह आज भी सर्वत्र ही विकट वनों और घास के मैदानों से ढकी होती।

मानव प्रारम्भ में चौपायों से भिन्न नहीं था। आवश्यकता पड़ने पर कभी-कभी वह पशुओं की भाँति, अधिक दूर तक देखने के लिये, अथवा ऊँचाई तक पहुँचने के लिये, अपनी आगे की दो टाँगें उठा कर पिछली टाँगों के बल ही खड़ा हो लेता था। एक समय ऐसा आया कि मानव-जाति ने चार टाँगों पर खड़ा होना सदा के लिये छोड़ दिया। ऐसा करने में उसे कुछ

लाभ तो अवश्य हुये; पर दो टाँगों से चलने में जो कष्ट था, उसकी कल्पना हम आज नहीं कर सकते। मानव ने अधिक दूर तक देखने के लिये उस कष्ट को अपनाया। उसी दिन मानो वह पशु-जाति से भिन्न कोटि का बन गया। अन्य पशु आज भी अपनी सनातन चाल को नहीं छोड़ते। मानव की यह प्रथम उन्नति थी, प्रथम प्रगति थी।

चार पैरों से चलने वाला प्राणी दो पैरों से दौड़ कर ही सन्तुष्ट नहीं हुआ। उसने अन्य पशुओं की पीठ पर सवारी की, गाड़ियाँ बनाईं, उनमें पशुओं को जोता, साइकिल बनाकर पशुओं से भी छुटकारा पा लिया, फिर मोटर, रेलगाड़ी और वायुयान आदि से यात्रा करने लगा। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उसने इसी प्रकार उन्नति की। यही मानव की नित्य नूतन प्रगति है। इसके पीछे उसकी बुद्धि का वैभव ही प्रधान साधन रहा है।

प्रगति की दिशा में मानव का सारा कार्य-व्यापार उसकी बुद्धि के बल से हुआ है। उसकी सफलता उसकी साधना और लगन का परिचय देती है। अन्य प्राणियों के पास भी बुद्धि है, पर इतनी कम मात्रा में कि मानव की तुलना में नहीं के बराबर है। उसी बुद्धि के बल से मानव ने अपने लिये नित्य नई सुविधायें प्राप्त की हैं।

मानव ने अधिक दूर तक और भली-भाँति देखना आरम्भ किया। यहीं से मानव-संस्कृति का आरम्भ होता है। वह संसार की सभी वस्तुओं को उपयोगिता की दृष्टि से परखने लगा। किस वस्तु का सबसे अच्छा उपयोग किस प्रयोजन के लिये किस प्रकार हो—यहीं से विज्ञान और दर्शन की नींव पड़ी। उसने इस अभिप्राय से जब अपना ही विवेचन किया तो आत्मा से परमात्मा तक को खोज निकाला। जब वह संसार का विवेचन

करने लगा तो उसे पाँच तत्त्व दिखाई पड़े और उसे ज्ञात हुआ कि इन्हीं तत्त्वों से अखिल विश्व का निर्माण हुआ।

मानव की सारी खोज और प्रयास उसके सुख के लिये रहे हैं। इनकी प्राप्ति के लिये उसने यह आरम्भ में ही समझ लिया कि अपने निजी प्रयत्न से ही सुख की प्राप्ति उस सीमा तक संभव नहीं है, जितनी कई लोगों के एक साथ मिलकर प्रयत्न करने से। यहीं से समा : का संगठन आरम्भ हुआ। मानव अकेला न रह कर समाज का एक अंग बन गया।

बुद्धि-वैभव के अतिरिक्त सहृदयता भी मानव को पशुओं से अ'धक मिली है। मानव की सहृदयता काव्य, चित्र, मूर्त्ति, सगीत, नृत्य, नाट्य आदि के रूप में प्रकट होती है। मानव सदा से सौन्दर्य का उपासक रहा है, उसने प्रकृति की सुन्दरता की परख की है, स्वयं सौन्दर्य की सृष्टि की है और कलात्मक सरसता का आनन्द लेते हुये आनन्द-विभोर हुआ है। मानव की सहृदयता और बुद्धि का वैभव जिस मात्रा में आज पाये जाते हैं, उसी मात्रा में वे सदैव नहीं रहे हैं। इनका सदैव विकास होता आया है। यही विकास संस्कृति है। संस्कृति का मौलिक अर्थ सुधारना अथवा सुन्दर या पूर्ण बनाना है।

प्रकृति मानव की आवश्यकताओं की सृष्टि करती है और मानव प्रकृति से ही उन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आवश्यक वस्तुओं को प्राप्त करता है। ऐसी परिस्थिति में किसी भी देश में मानव-जीवन के कार्य-व्यापार अथवा रहन-सहन की रूप-रेखा बहुत कुछ उस देश की प्राकृतिक दशा पर अवलम्बित होती है। प्रत्येक देश की प्राकृतिक दशा में कुछ विशेषता होती है। यही कारण है कि प्रत्येक देश की संस्कृति की भी अपनी

निजी विशेषतायें होती हैं। ये विशेषतायें स्वभावतः प्राकृतिक दशा के अनुकूल होती हैं।

समय की गति के अनुसार भी संस्कृति की रूप-रेखा में परिवर्त्तन होता रहता है। प्रत्येक देश की संस्कृति पर वहाँ की राजनीतिक और ऐतिहासिक परिस्थितियों की गहरी छाप पड़ती है। जिस प्रकार प्रकृति की देन—गंगा या हिमालय की छाप भारतीय संस्कृति पर स्पष्ट झलकती है, उसी प्रकार राम, कृष्ण, अशोक कालिदास और शङ्कराचार्य आदि के व्यक्तित्व की छाप भी भारतीय संस्कृति पर प्रत्यक्ष है। संस्कृति के निरूपण के सम्बन्ध में इस देश की प्राकृतिक दशा तथा ऐतिहासिक परिस्थितियों का परिचय प्राप्त कर लेना उपयोगी है।

प्राकृतिक योजना

भारत एशिया महाद्वीप के दक्षिण में विशाल प्रायद्वीप की भाँति निकला हुआ है। इसकी लम्बाई और चौड़ाई अधिक से अधिक १८०० मील हैं। प्राचीन संस्कृति की दृष्टि से भारत की सीमा इससे भी अधिक विस्तृत माननी चाहिए। संस्कृति की दृष्टि से उत्तर में अफगानिस्तान और मध्य एशिया का कुछ भाग, दक्षिण में लंका तथा पूर्व में एशिया के पूर्वी द्वीप समूह तथा हिन्द चीन भी सैकड़ों वर्षों तक भारत के साथ थे।

भारत के उत्तर में हिमालय पर्वत शिरस्त्राण की भाँति फैला हुआ है। यह पर्वत इतना ऊँचा है कि यह उत्तर की ओर से ठंडी हवाओं को रोक कर इस देश की जलवायु को सुहावनी रखता है तथा दक्षिण पूर्व और दक्षिण पश्चिम से आने वाली ।वाओं को रोक कर उत्तर भारत में भरपूर जल बरसाता है

इस पर्वत की अत्यधिक ऊँचाई के कारण इसके उत्तर के देशों से बहुत कम जातियाँ आक्रमणकारी बन कर आ सकीं। ऐसी परिस्थिति में इस देश में चिरकाल तक सुव्यवस्था और शान्ति रह सकी थी और संस्कृति का विकास हो सका था।

हिमालय के दक्षिण में उत्तर भारत का नदियों का चौरस मैदान है। यह मैदान सारे संसार में अपनी कोटि का निराला ही है। इसमें सुखपूर्वक खेती, पशु-पालन और व्यापार किये जा सकते हैं। लोगों के आपस में मिल-जुल सकने से तथा आने-जाने में किसी प्रकार की कठिनाई न पड़ने से इस प्रदेश में धार्मिक, राजनीतिक तथा साहित्यक एकता बनी रही।

उत्तर भारत में सदा से नदियों का महत्त्व रहा है। इनके तट के प्रदेश की भूमि प्रायः प्रतिवर्ष बाढ़ आने पर नई होती रहती है और उसकी उर्वरा-शक्ति कभी क्षीण नहीं होती। नदियों में नावों के चलने से दूर-दूर के देशों से व्यापार की सुविधा रहती है। इनमें वर्ष भर जल का प्रवाह रहता है और तट-प्रदेश में रहने वाले लोगों को अपने उपयोग के लिये स्वास्थ्य-वर्धक जल की प्राप्ति अनायास ही हो सकती है। इन सुविधाओं का विचार करके इस देश में प्राचीन काल से ही लोग अधिकाधिक संख्या में नदियों के तट पर रहते आये हैं। इन्हीं नदियों के तट पर प्राचीन काल के प्रायः सभी नगर और आश्रम बने। नदियों के तट ही भारतीय संस्कृति और सभ्यता के केन्द्र रहे हैं।

उत्तर भारत के विपरीत दक्षिण भारत पर्वत-श्रेणियों का देश है। इस प्रदेश में जीवन की सुविधायें उतनी पर्याप्त मात्रा में नहीं मिलतीं, जितनी उत्तर भारत में। यहाँ न तो समतल मैदान ही अधिक हैं, जो खेती के लिए उपयोगी होते, न नदियाँ ही

बड़ी-बड़ी हैं, जिनसे व्यापार और यातायात में सुविधा होती और न वर्षा ही पर्याप्त मात्रा में होती है। ऐसी परिस्थिति में इस प्रदेश में निवासियों के जीवन की न तो एकसूत्रता ही हो सकी और न सर्वत्र ही सभ्यता का विकास हो सका। इसमें कोई सन्देह नहीं कि दक्षिण भारत में जो प्रदेश चौरस हैं और नदियों के तट पर हैं, वहाँ सभ्यता का सर्वोच्च विकास हो सका था। अनेक बाधाओं के होते हुए भी उत्तर भारत और दक्षिण भारत के लोग सदा से मिलते-जुलते रहे हैं। अनेक विषमताओं और विभिन्नताओं के होते हुए भी भारत के इन दो खंडों में संस्कृति की एकरूपता प्रायः रही है। दक्षिण भारत ने प्राचीन संस्कृति को उत्तर भारत की अपेक्षा अधिक सुरक्षित रखा है। उत्तर भारत में समय-समय पर जो विदेशी आये, उनकी सभ्यता का सम्मिश्रण होता रहा, पर इन विदेशियों का दक्षिण भारत में स्वल्प प्रसार होने से वहाँ की संस्कृति शुद्ध रूप में बनी रही।

प्राचीन काल में भारत का अधिक भाग वनों से लहलहाता था। इन वनों का भारतीय संस्कृति पर अनुपम प्रभाव पड़ा है। कवीन्द्र रवीन्द्र के शब्दों में भारतीय 'सभ्यता का मूल स्रोत नगर में नहीं, वन में है। भारतवासियों ने कभी भी इन वनों को सुख और शान्ति के मार्ग में बाधक नहीं माना, वरं अपने अभ्युदय के लिए उनकी शरण ली। वन के निवास ने ऋषियों को जड़ या जंगली नहीं बनाया, अपितु उनके लिये आवश्यक शान्ति और समाधि की सामग्री और वातावरण प्रस्तुत करके उनकी उदात्त विचार-धारा को प्रस्फुटित किया है। वनवासियों की संस्कृति की धारा में सारे भारत ने अवगाहन किया और आज भी कर रहा है।

भारत में प्रायः सर्वत्र जलवायु सुहावनी है। ऐसी जलवायु में लोगों की रहन-सहन का सरल होना स्वाभाविक है। जीवन की साधारण आवश्यकतायें स्वल्प हैं और इनकी पूर्त्ति करने के लिये होड़ करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। जलवायु के अनुकूल भारतीय चरित्र का विकास हुआ है। लोग प्रायः निश्छल, सच्चे और विनयी होते आये हैं। जलवायु का प्रभाव लोगों के वेश-विन्यास और गृह-निर्माण की कला पर भी पड़ा है। ढीले-ढाले वस्त्र और चारों ओर से खुले घर जलवायु के अनुकूल पड़ते हैं। लोगों को बहुत कम वस्त्र धारण करने की आवश्यकता पड़ती है। इस देश में रहने के लिये बहुत सुरक्षित घर की भी आवश्यकता नहीं पड़ती है। प्राचीन काल से ही आज तक पत्ते और फूस के झोपड़ों में भी लोग रह सके हैं। यदि किसी ने चाहा तो अपनी रात्रि खुले आकाश के नीचे बिता ली।

प्रकृति ने भारतवासियों को मानव-जीवन के लिये उपयोगी सभी वस्तुओं को उदारता पूर्वक प्रस्तुत किया है। कृषकों को तो थोड़ा श्रम करने से भरपूर धन-धान्य की प्राप्ति होती है, पर वन में रहने वाले तपस्वियों और ऋषियों के लिये वन अनायास ही जीविका, वल्कल-वस्त्र और आवास प्रस्तुत कर देता है। इस देश के वनों और घास के मैदानों में देख-भाल किये बिना भी सहस्रों गौवों का भरण-पोषण हो सकता था। केवल धनिकों के पास ही नहीं, ऋषियों और आश्रमवासियों के पास भी सहस्रों गायें रहा करती थीं। धरातल के ऊपर की समृद्धि के समान ही भूगर्भ की सम्पत्ति भी अत्यधिक रही है। कोयले और लोहे से लेकर स्वर्ण तथा बहुमूल्य रत्न भारतीय वसुन्धरा में भरपूर पाये जाते हैं। रत्नाकर भी मोती प्रस्तुत करके भारत को धनी

बनाता है। इस प्रकार स्पष्ट प्रतीत होता है कि जलवायु तो लोगों को सरल जीवन के लिये अवसर प्रदान करती है, किन्तु उपज भोग-विलास के सारे साधन अनायास प्रस्तुत कर देता है। ऐसी परिस्थिति में एक ओर तो दिगम्बर संन्यासी का आनन्दमय जीवन दिखाई पड़ता है और दूसरी ओर भोग-विलास में लिप्त सम्राट् का ऐश्वर्य।

बहुत प्राचीन काल से ही केवल भारतवासियों ने ही नहीं, विदेशियों ने भी काश्मीर से कन्या-कुमारी तक तथा सिन्धु से ब्रह्मपुत्र तक फैले हुए भूभाग को एक देश माना है। विष्णु पुराण में इस देश की एकता के विषय में लिखा है :—

उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम्।
वर्षं तद्भारतं नाम भारती यत्र सन्ततिः॥

यह देश सदा से संस्कृति की दृष्टि से अपने पड़ोसी देशों से भिन्न रहा है। भारतीय संस्कृति के अनुसार पवित्र मानी हुई नदियाँ (गंगा, यमुना, सरस्वती, सिन्धु, नर्मदा, गोदावरी और कावेरी), तीर्थस्थान (बदरिकाश्रम, रामेश्वर, द्वारिका, जगन्नाथ-पुरी, हरद्वार, प्रयाग, काशी, गया, उज्जैन, काँची आदि), महापुरुष (राम, कृष्ण, जनक, अशोक, विक्रमादित्य, हर्ष, शंकराचार्य, रामानुज आदि) सारे भारत के कोने-कोने का प्रतिनिधित्व करते हैं। कोई भी कला, धर्म, दर्शन या विज्ञान एकदेशीय न रह कर सारे भारत का होकर रहा। प्राचीन काल से लेकर आज तक संस्कृत भाषा और साहित्य समग्र भारतीय राष्ट्र की सम्पत्ति रहे हैं और इस देश को सांस्कृतिक एकता को स्वयंसिद्ध बनाया है। दिग्विजय के लिये राजाओं ने सारे भारत को अपनी विजय-भूमि मानी।

ऐतिहासिक और राजनीतिक योजना

लगभग पाँच लाख वर्ष हुये, जब पृथ्वी पर मानव-कोटि का जीवधारी दृष्टिगोचर हुआ। उनको मानव कहना बहुत ठीक नहीं, क्योंकि वे आजकल के मानवों से बहुत कुछ भिन्न थे; वे प्रायः वन-मानुषों से मिलते जुलते थे। निश्चय ही वे दो पैरों पर खड़े होते थे। उन्हीं से आजकल के मानवों का विकास हुआ है। उनसे पहले अथवा उनके पूर्वज, जो प्राणी थे, उनको मानव-कोटि में नहीं रखा जा सकता। मानव-कोटि के इन प्राणियों ने सबसे अधिक महत्व-पूर्ण जो काय किया, वह था पत्थर के अस्त्र-शस्त्र बनाना। उनकी इस प्रगति से मानव-संस्कृति का आरम्भ होता है। उस समय से लेकर जब तक मानव धातुओं का प्रयोग नहीं कर सका था, प्रस्तर-युग कहते हैं।

संस्कृति के विकास की दृष्टि से प्रस्तर-युग के दो भाग किये गये हैं—प्राचीन और नवान। संसार के विभिन्न देशों के तत्का-लीन अवशेषों को देखने से ज्ञात होता है कि प्राचीन प्रस्तर-युग में चीन का मानव आग का प्रयोग करना जानता था, योरप का मानव मृत व्यक्तियों को श्रद्धापूर्वक गाड़ता था, उनके लिये समाधियों में मांस-भोजन भी रख देता था और व्यापार भी करता था, फ्रांस का मानव धरातल से लगभग दो मील नीचे तक की चट्टानों पर गैंडों, बैलों और हरिणों का चित्र बनाता था। कुछ लोग तो चमड़े का वस्त्र भी बना लेते थे। भारत में भी तत्कालीन चित्र मिलते हैं।

भारत में प्राचीन प्रस्तर युग के मानवों की संस्कृति का परिचय बहुत कुछ पत्थर के अस्त्र-शस्त्रों से लगता है, जिनको उन्होंने प्रधानतः शिकार करने के लिये और वृक्षों से फल तोड़ने के

लिये बनाया था। इन अस्त्र-शस्त्रों से वे छेद कर सकते थे, या काट भी सकते थे। उनके अस्त्र शस्त्र लकड़ी और हड्डियों के भी बनते थे। लकड़ी और हड्डियों की बनी हुई मुठिया भी वे पत्थर के अस्त्र-शस्त्रों में लगाते थे। इनका भोजन शिकार किये हुये पशु-पक्षियों और मछलियों का मांस तथा फल और मूल थे। वे दूध देने वाले जंगली पशुओं को पकड़ कर उनका दूध भी पी लेते थे। यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि वे अपने रहने के लिये किस प्रकार का घर बनाते थे। उनमें से प्रायः सभी के सभी भ्रमणशील थे और आज कल के लोगों की भाँति जीवन भर के लिये कहीं घर बना कर नहीं रहते थे। जहाँ जैसी सुविधा हुई, हिंसक पशुओं से तथा ठंडक, गर्मी और वर्षा से बचने के लिये घास-फूस की कुटिया में अथवा वृक्षों या पर्वतों की गुफाओं में रह लेते थे।

इन आदि-काल के मानवों में बुद्धि का बीज अंकुरित होने लगा था। किन पशुओं का मांस खाना चाहिये, उनको किस प्रकार पकड़ा जाय, कौन फल और मूल जीवन शक्ति का संवर्धन करते हैं और उनका संग्रह कैसे किया जाय तथा किन-किन वस्तुओं के अस्त्र-शस्त्र बनाये जायँ—आदि समस्याओं का समाधान करने वाला मानव-कोटि का प्राणी पशु श्रेणी से बुद्धि-बल की उत्कृष्टता के आधार पर बढ़-चढ़ कर था।

नवीन प्रस्तर युग

ऊपर हमने जिस संस्कृति का वर्णन किया है वह कई लाख वर्षों तक सतत विकासमयी रह कर उस रूप में परिणत हुई। विकास के इसी क्रम में आज से लगभग केवल १०,००० वर्ष पहले नवीन प्रस्तर-युग का आविर्भाव हुआ। इस युग में भी

लोग पत्थर के ही अस्त्र-शस्त्र बनाते थे। सोने को छोड़ कर किसी अन्य धातु का उपयोग वे नहीं जानते थे। नवीनता यह थी कि वे पत्थर को केवल तोड़-फोड़ कर अस्त्र-शस्त्र का रूप-मात्र ही देकर नहीं सन्तुष्ट हुये, अपितु उसे रगड़ कर, चिकना बनाकर, और पालिश लगा कर सँवार लेते थे और उसे अधिक उपयोगी और तीखा बनाते थे। वे विभिन्न प्रकार के पत्थरों से विभिन्न प्रकार के अस्त्र-शस्त्र बनाने में प्रवीण थे। नवीन प्रस्तर युग के अस्त्र शस्त्र प्राचीन प्रस्तर-युग के अस्त्र-शस्त्रों से प्रायः छोटे आकार-प्रकार के पाये जाते हैं।

नवीन प्रस्तर-युग के मानवों की कृतियाँ प्रायः सारे भारत में ही नहीं, पूरे योरप और एशिया में पाई जाती हैं। मद्रास का बेल्लरी जिला तत्कालीन सभ्यता का प्रधान केन्द्र था। यहाँ पर उस समय के बने हुये पत्थर के असंख्य सामान मिले हैं। इस युग की विशेषतायें कृषि तथा पशु-पालन हैं। लोग कई प्रकार के मिट्टी के बर्तन पका कर बनाते थे और ऊन तथा तन्तुओं के वस्त्र बुन लेते थे। उनके घर मिट्टी लकड़ी अथवा पत्थर के बने होते थे। उनकी कृतियों से कला का परिचय मिलता है उनके पात्रों पर विभिन्न रंगों से बने हुये चित्र मिलते हैं। गुफाओं में रहने वाले लोग गुफा की दीवालों पर नृत्य और मृगया के चित्र बनाते थे। ऐसे चित्र अब भी पहाड़ों की गुफाओं में मिलते हैं। नाव बना कर वे समुद्रों में यात्रा भी करते थे। इनकी धार्मिक भावना की परख तत्कालीन समाधियों से होती है, जिनमें ये शवों को सुरक्षित ढंग से गाड़ते थे। समाधियों में कुछ शवों के अवशेष बड़े पात्रों में रखे हुये मिलते हैं। इस युग की सभ्यता के निर्माण में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों का अधिक हाथ था।

नवीन प्रस्तर-युग की सभ्यता के पश्चात् आज से ६,००० वर्ष

पहले धातुओं का युग आता है। इस युग में पत्थर के अस्त्र-शस्त्रों के स्थान पर ताँबे के अस्त्र-शस्त्र बनने लगे थे। भारत में इस सभ्यता का प्रधान केन्द्र सिन्ध-प्रान्त था। इस प्रान्त के मोहेन-जोदड़ो और हड़प्पा नगरों के ध्वंसावशेषों से तत्कालीन संस्कृति का पूरा परिचय मिलता है। इन नगरों की संस्कृति का विकास लगभग ३००० ई० पू० से लेकर २००० ई० पू० तक होता रहा।

ताँबे की सस्कृति की समकालीन आर्यों की वैदिक संस्कृति है। आर्यों की प्राचीन संस्कृति का परिचय उनके ग्रन्थों से मिलता है। ये ग्रन्थ उस समय से लेकर आज तक अपने शुद्ध रूप में सुरक्षित हैं। इन ग्रन्थों के रचयिता अपने पुत्रों और शिष्यों को सारा ग्रन्थ कण्ठस्थ करा देते थे। वैदिक साहित्य की रचना का समय लगभग २५०० ई० पू० से लगभग ६०० ई० पू० है। इस साहित्य में तत्कालीन राजाओं के चरित का उल्लेख कहीं-कहीं मिलता है। इसके आधार पर उनके इतिहास की शृंखला बनाई गई है।

भारत में सर्वप्रथम राजा मनु माने जाते हैं। इन्हीं से मानव या सूर्यवंश के राजाओं का प्रादुर्भाव हुआ। मानव-वंश के राजाओं में से इक्ष्वाकु ने अयोध्या में, करुष ने सोन के पश्चिम और गंगा के दक्षिण में तथा शर्याति ने गुजरात में राज्यों की प्रतिष्ठा की। इस वंश के अन्य राजाओं ने भी भारत के विभिन्न भागों में अलग-अलग राज्य स्थापित किये। इसी समय प्रयाग के समीप ऐल या चन्द्र वंश का प्रतापी राजा पुरूरवा हुआ। इस वंश में पुरूरवा का पोता नहुष और उसके पुत्र ययाति प्रसिद्ध राजा हुए। ययाति चक्रवर्ती राजा था। उसके पाँच पुत्र—यदु, तुर्वस, द्रुह्यु, अनु और पुरु ने भारत के विभिन्न भागों में राज्य की प्रतिष्ठा की। यदु-वंश में मान्धाता नामक प्रथम आर्य सम्राट्

हुआ, जिसके नाम की उपमा आज भी महाराजाओं का गौरव बढ़ाने के लिये दी जाती है। द्रुह्यु-वंश का प्रसिद्ध राजा गान्धार हुआ जिसके नाम पर गान्धार नगर बसा। यह नगर आज भी अफगानिस्तान में कान्धार नाम से उस राजा के कीर्त्ति-स्तम्भ-रूप में वर्त्तमान है। अनु-वंश में उशीनर नाम के प्रसिद्ध राजा ने आधुनिक पञ्जाब में अपने राज्य की प्रतिष्ठा की। उसका पुत्र शिवि अपनी उदारता के लिये आज भी प्रसिद्ध है। कहते हैं कि उसने एक कबूतर पक्षी की रक्षा करने के लिये अपने शरीर का मांस काट-काट कर बाज के लिये अर्पित किया था।

भारतीय साहित्य के अनुसार ऊपर बताये हुये मनु से लेकर शिवि तक राजा सत्य-युग में हुए थे। इन राजवंशों में समय-समय पर महान् सम्राट् होते रहे। इन्हीं राजवंशों की शाखायें भारत के कोने-कोने में जा पहुँचीं और नये-नये राज्यों की प्रतिष्ठा करती रहीं। इनमें से कुछ प्रमुख सम्राट् विदिशा के हैहय-वंश के कार्तवीर्य अर्जुन तथा अयोध्या के मानव-वंश के राजा हरिश्चन्द्र, सगर, भगीरथ, दिलीप, रघु, दशरथ, राम, अंग-देश के अनु-वंश के बलि, प्रयाग के समीप प्रतिष्ठान के पुरु वंश के राजा दुष्यन्त और भरत त्रेता युग के माने जाते हैं। सूर्यवंश के प्रसिद्ध सम्राट् सगर और राम क्रमशः त्रेता युग के आदि और अन्त में हुए।

द्वापर-युग की सबसे अधिक प्रसिद्ध घटना महाभारत का युद्ध है। इस युग में यदुवंशी और पुरुवंशी राजाओं का विशेष प्रभुत्व रहा। यदुवंश के कृष्ण और पुरुवंश के कौरव और पाण्डव भारतीय इतिहास में सदैव स्मरणीय रहेंगे। कृष्ण की मृत्यु-काल से द्वापर का अन्त माना जाता है।

ऊपर जो काल-विभाजन किया गया है वह ऐतिहासिक दृष्टि से मनु और संवर्तों में ठीक-ठीक नहीं दिया जा सका है। फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि पौराणिक परम्परा के आधार पर सत्य-युग २९५० से २३०० ई० पू०, त्रेता-युग २३०० से १९०० ई० पू०. और द्वापर १९०० से १०२५ ई० पू० तक माने जा सकते हैं।

महाभारत-युद्ध के पश्चात् हस्तिनापुर का राजा अभिमन्यु का पुत्र परीक्षित् हुआ। परीक्षित् शक्तिशाली राजा नहीं था। गान्धार देश के नाग जाति के लोगों ने हस्तिनापुर तक आक्रमण करके परीक्षित् को मार डाला। परीक्षित् के पश्चात् उसका पुत्र जनमेजय बहुत शक्तिशाली राजा हुआ। उसने नागों से अपने पिता की मृत्यु का बदला लिया और उनको समूल नष्ट कर दिया। जनमेजय के पश्चात् उस वंश में पुत्र-परम्परा से शतानीक, अश्व-मेधदत्त, अधिसीमकृष्ण और निचक्षु राजा हुए।

इसके पश्चात् प्रायः सारे भारत में जनपदों और महाजनपदों की प्रतिष्ठा हुई। महाजनपदों के नाम इस प्रकार मिलते है :—अंग (पूर्वी विहार), मगध (दक्षिणी विहार), काशी, कोसल, वृजि (उत्तरी विहार), मल्ल (गोरखपुर जिला), चेदि (नर्मदा और यमुना के बीच का प्रदेश), वत्स (प्रयाग-क्षेत्र), कुरु (थानेश्वर, दिल्ली और मेरठ जिले), पाँचाल (बरेली, बदायूँ और फ़र्रुखाबाद जिले), मत्स्य (जयपुर), शूरसेन (मथुरा), अश्मक (गोदावरी का तटीय प्रदेश), अवन्ति (मालवा), गान्धार (पेशावर और रावलपिंडी जिले), कम्बोज (दक्षिण-पश्चिमी कश्मीर और काफिरिस्तान के कुछ भाग)। इनमें से वृजि-जनपद में लिच्छवि और ज्ञातृक वर्ग के लोग थे। वृजि-जनपद में कोई राजा नहीं था। इसका शासन सभाओं के

द्वारा होता था, जिसके सदस्य प्रजा के द्वारा चुने जाते थे। ऐसे जनपदों को गणतन्त्रात्मक कहा जाता था। उस समय वृजि के अतिरिक्त मल्लों, शाक्यों, भर्गों और मौर्यों के गण राज्य थे। आगे चल कर अवन्ति, वत्स, कोसल और मगध के राज्य प्रमुख रह गये। भारत की ऐसी राजनीतिक परिस्थिति आठवीं शती से लेकर छठीं शती ई० पू० तक रही।

छठीं शती ई० पू० में क्रमशः जैन और बौद्ध धर्म के उन्नायक दो महात्माओं—वर्धमान महावीर और गौतम बुद्ध का प्रादुर्भाव हुआ। इन धर्मों ने भारतीय संस्कृति की धारा में नई स्फूर्ति ला दी थी।

गौतम बुद्ध का समकालीन मगध देश का प्रसिद्ध विजयी राजा श्रेणिक या बिम्बिसार (ई० पू० ५४३ से ४९१) था। बिम्बिसार और उसके पुत्र अजातशत्रु (ई० पू० ४९१ से ४५९) ने कई पड़ोसी राज्यों को जीत कर अपना प्रभुत्व बढ़ाया।

अजातशत्रु के वंश में अन्य कई शक्ति हीन राजा हुए। उनकी अयोग्यता से दुःखी होकर प्रजा ने उस वंश के मन्त्री शिशुनाग को (ई० पू० ४११ से ३९३) राजा चुन लिया। शिशुनाग के वंश का अन्तिम राजा महापद्मनन्द था।

ई० पू० ३२७ में यूनानी राजा सिकन्दर ने भारत में साम्राज्य स्थापित करने की इच्छा से आक्रमण किया और तक्षशिला में पुरु नामक राजा को जीत कर आगे बढ़ना चाहा, पर उसकी सेना ने मगध साम्राज्य की सैन्य-शक्ति की ख्याति सुन कर आगे बढ़ने की हिम्मत न की। अतः वह वहीं से लौट पड़ा। महानन्द के बाद मौर्यवंश में चन्द्रगुप्त मौर्य (ई० पू० ३२५—३००) तथा अशोक (ई० पू० २७४-२३२) प्रसिद्ध सम्राट हुये। चाणक्य या कौटिल्य नामक ब्राह्मण राजनीतिज्ञ, चन्द्रगुप्त का प्रधान

सहायक था। उसका लिखा हुआ अर्थशास्त्र तत्कालीन भारतीय संस्कृति के परिचय के लिये महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। अशोक केवल भारत में ही नहीं सारे संसार में सर्वोच्च प्रतिभाशाली सम्राट् माना गया है। उसने बौद्ध धर्म और दर्शन के अनुकूल भारतीय जीवन को सुधारने की सफल चेष्टा की।

मौर्यों के पश्चात् मगध में क्रमशः शुंग और काण्व राजवंश स्थापित हुए। शुंगवंश की प्रतिष्ठा पुष्यमित्र नामक ब्राह्मण ने की थी। वह मौर्यवंश के अन्तिम राजा का सेनापति था। उसका साम्राज्य नर्मदा से लेकर पंजाब तक विस्तृत था। शुंगों की राजधानी पाटलिपुत्र (पटना) में थी; पुष्यमित्र का युवराज-पुत्र अग्निमित्र पूर्वी मालवा में विदिशा (भिलसा) नामक नगर में रह कर उस प्रदेश की देख-भाल करता था। अग्निमित्र और उसके पुत्र वसुमित्र अपने समय के महान् विजेता थे। महाकवि कालिदास ने मालविकाग्निमित्र नामक नाटक में अग्निमित्र को नायक बनाया है। शुंगवंश लगभग १८५ ई० पू० से ७२ ई० पू० तक प्रतिष्ठित रहा। इस वंश के अन्तिम राजाओं की शक्तिहीनता के कारण उनके काण्ववश के मन्त्री राज-काज चलाते थे। अन्त में मन्त्री ही राजा बन बैठे। काण्वों का शासन काल ई० पू० ७२ से ई० पू० २७ है। इस वंश का प्रधान राजा वसुदेव था।

शुंग और काण्व वंशों का अन्त हो जाने पर प्रायः सारे भारत में सातवाहन वंशी राजाओं का प्रभुत्व स्थापित हुआ। इस वंश ने सर्वप्रथम दक्षिण भारत के आन्ध्रप्रान्त में गोदावरी और कृष्णा के तटीय प्रदेश में राज्य किया। सातवाहन-वंश में शातकर्णि प्रथम, गौतमी पुत्र शातकर्णि, वासिष्ठीपुत्र पुलुमायी और श्रीयज्ञ शातकर्णि प्रसिद्ध राजा हुए। यह राजवंश ई० पू०

१००-से २२५ ई० तक चला। सातवाहन राजाओं ने विदेशी आक्रमणकारियों का सफलतापूर्वक सामना किया।

दूसरी शती ई० पू० में कलिंग देश में खारवेल नामक महान् शक्तिशाली और विजयी राजा हुआ। उसने दक्षिण भारत में गोदावरी तट तक विजय की थी। खारवेल ही अपने वंश का महान् राजा था।

उत्तर भारत के जिन राज्यों की ऊपर चर्चा की गई है, उन्हीं के समकालीन तामिल प्रदेश में चोल, पाण्ड्य और केरल राज्यों की स्थापना हुई। चोलों का राज्य आधुनिक तंजोर और त्रिचनापल्ली जिलों में था। दूसरी शती ई० पू० में इनका प्रभुत्व बहुत बढ़ा चढ़ा था। एलर नामक चोल राजा ने लङ्का तक को जीता था। पाण्ड्य-वंश व्यापार और विद्या के क्षेत्र में आगे बढ़ा था। इनका राज्य मदुरा, तिन्नेवेल्ली और दक्षिणी त्रावनकोर में था। पहली शती ई० पू० में एक पाण्ड्य नरेश ने अपना राजदूत रोम के सम्राट् आगस्टस के पास भेजा था। केरल राज्य मलाबार, कोचीन और उत्तरी त्रावनकोर में था।

अशोक के पश्चात् भारत की राजनीतिक शक्ति जब कभी क्षीण रही, विदेशी आक्रमणकारियों का उपद्रव इस देश में प्रायः होता रहा। भारत की उत्तर-पश्चिमी प्रान्त-भूमि और निकटवर्ती राज्य प्रायः उन आक्रमणकारियों के युद्ध-स्थल रहे हैं। इनमें से कई राजा विजयी हुये। उन्होंने पश्चिमोत्तर प्रदेश में राज्य की प्रतिष्ठा की। यूनानी राजा मेनेन्ड्रास (मिलिन्द) ने साकल (स्याल कोट) में अपनी राजधानी बनाई। शकों ने तक्षशिला, मथुरा, उज्जैन, सौराष्ट्र और महाराष्ट्र में राज्य किया। कुषाण वंश का कनिष्क महान् सम्राट् हुआ। उसका राज्य भारत में काबुल से लेकर बनारस और विन्ध्याचल तक

तथा भारत के बाहर काशगर, यारकन्द और खोतान तक फैला हुआ था।

लगभग १५० ई० में उत्तर भारत में भारशिव राजवंश की प्रतिष्ठा हुई। इनकी राजधानी कान्तिपुरी (मिर्जापुर जिले में) थी। भारशिवों ने शक राजाओं को शक्ति हीन किया और धीरे-धीरे समूचे उत्तर भारत के अधिक भाग में अपना राज्य स्थापित किया। तीसरी शती के मध्य भाग में दक्षिण भारत में वाकाटक वंश के राजाओं का प्रादुर्भाव हुआ। इनका राज्य पहले केवल बरार में था, पर धीरे-धीरे उत्तर और दक्षिण भारत में भी विस्तृत हुआ। भारशिव वंश के अंतिम राजा भवनाग ने अपनी कन्या का विवाह वाकाटक वंश के राजा गौतमी पुत्र से कर दिया और अपनी कन्या के पुत्र रुद्रसेन को अपना राज्य दे दिया। वाकाटक वंश गुप्त राजाओं के समकालीन लगभग छठों शती के मध्य भाग तक चलता रहा।

गुप्त वंश की नींव मगध में महाराज गुप्त ने २७५ ई० में डाली। इस वंश में तीन महान् प्रतिभाशाली राजा चन्द्रगुप्त प्रथम (३२०—३२५ ई०) समुद्रगुप्त (३३५-३७५ ई०) और चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य (३७५-४१३ ई०) हुए। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने वाकाटक वंश के राजा रुद्रसेन द्वितीय के साथ अपनी कन्या का विवाह किया। इन दो राजवंशों के इस सम्बन्ध से उस समय सारे भारत की राजनीतिक एकता सुदृढ हो गई।

गुप्तवंश के राजाओं ने तत्कालीन भारत को अपनी सुदृढ और कौशल पूर्ण राज-व्यवस्था से इस प्रकार उन्नति के शिखर पर पहुँचा दिया कि तभी से उनके शासन-काल को स्वर्णयुग कहते हैं। उस युग में भारत केवल धन-धान्य सम्पन्न ही नहीं हुआ, अपितु महाकवियों, शिल्पाचार्यों और कलाविदों की

कृतियों से चमक उठा। इस स्वर्णयुग का वास्तविक परिचय चीनी यात्री फाह्यान के भारत-वर्णन से भी मिलता है। वह ४०५ से ४११ ई० तक भारत में भ्रमण करता रहा।

गुप्तवंश का अन्तिम शक्तिशाली राजा स्कन्दगुप्त हुआ। ४५५ ई० में, ज्यों ही वह राजा हुआ, उसे हूण नामक विदेशी आक्रमणकारियों का सामना करना पड़ा। अपने शासन-काल में सदैव ही उसने हूणों को परास्त करके दूर भगाया। स्कन्द गुप्त के पश्चात् गुप्त वंश में पुरु गुप्त, नरसिंह गुप्त आदि शक्तिशाली राजा हुए। पर हूणों ने भारत पर आक्रमण करके चारों ओर लूट-पाट तथा अशान्ति का वातावरण बना दिया। हूणों के नेता तोरमाण और मिहिरकुल ने मालवा में हूण-राज्य की स्थापना की और वहाँ से गुप्त राजाओं का प्रभाव सदा के लिए मिट गया। ५३० ई० में मध्य भारत के शक्तिशाली राजा यशोधर्मा ने भारतीय राजाओं का एक संघ बना कर मिहिर कुल को परास्त किया और उसे कश्मीर की ओर भगा दिया। मिहिर-कुल ने कश्मीर के शरण देने वाले राजा का राज्य ही हड़प लिया, पर शीघ्र ही उसकी मृत्यु हो गई। मिहिरकुल अपने वंश का अन्तिम शक्तिशाली राजा था। हूण जाति अन्त में भारतीय संस्कृति में रंग गई।

यशोधर्मा के अतिरिक्त कन्नौज के मौखरि राजाओं ने भी हूणों से युद्ध किये। इस वंश का प्रथम शक्तिशाली विजेता महाराजाधिराज ईश्वरवर्मा हुआ। उसने दक्षिण भारत के दक्षिणी और पश्चिमी भागों को जीता था और गौडों को परास्त किया था। इस राजकुल में आगे चल कर ग्रहवर्मा नामक राजा हुआ जिसका विवाह राजा हर्षवर्धन की बहिन राज्यश्री से हुआ था। ग्रहवर्मा की हत्या मालवा के राजा देवगुप्त के हाथों हुई। इस

प्रकार इस वंश का अन्त ६०६ ई० में हो गया। इस वंश के अधीन उन्नति के दिनों में पूरे उत्तर प्रदेश और मगध का अधिक भाग सम्मिलित थे।

पाँचवीं शती के अन्त में गुप्त राजाओं की शक्ति के क्षीण हो जाने पर सौराष्ट्र में वलभि-वंश के सेनापति भट्टारक ने अपना राज्य स्थापित किया। इस वंश में धरसेन चतुर्थ सातवीं शती के मध्य भाग में प्रताप शाली राजा हुआ। यह राजवश अधिक से अधिक सौराष्ट्र तथा गुजरात और मालवा के कुछ भाग को ही अपनी राज्य-सीमा में ला सका, पर इसका प्रभुत्व तीन शतियों तक रहा। वलभि के तत्कालीन विश्वविद्यालय की प्रशंसा इत्सिंग ने की है और इसको नालन्दा के विश्वविद्यालय के समकक्ष बताया है।

सातवीं शती के पूर्वार्ध में उत्तर भारत में हर्ष का शासन-काल (६०६—६४६ ई०) महत्त्वपूर्ण है। इस समय का ऐतिहासिक वर्णन उसके राजसभा के कवि बाण के लिखे हुए हर्ष चरित और चीनी यात्री ह्वेन साँग की भारत-यात्रा के वर्णन से लगता है। इस राजवंश की प्रतिष्ठा पाँचवीं शती के अन्त या छठीं शती के प्रारम्भ में श्रीकण्ठ (थानेश्वर) प्रदेश में नरवर्धन के द्वारा की गई थी। हर्ष ने अपना साम्राज्य लगभग सारे उत्तर भारत में फैलाया और सर्वत्र सुख और शान्ति की व्यवस्था की। वह केवल युद्ध-वीर ही नहीं था, अपितु भारत के कई अन्य विद्वान् राजाओं की भाँति उच्चकोटि का कवि और कलाकार भी था। उसकी राजधानी कन्नौज, उत्तर भारत का सबसे अधिक अभ्युदयशील और मनोरम नगर बन गया।

हर्ष के पश्चात् कन्नौज में यशोवर्मा नामक प्रसिद्ध राजा

लगभग ७२५ ई० से ७५२ ई० तक रहा। गउडवहो नामक महा-काव्य में उसके भारत-दिग्विजय का वर्णन है। नवीं शती में कन्नौज में प्रतिहारों का राज्य हुआ। इस राजवंश ने नवीं शती के अन्तिम भाग तक बगाल, पंजाब, मध्यभारत और काठिया-वाड़ तक अपने राज्य का विस्तार बढ़ा लिया। इस वंश का प्रधान राजा भोज ८३६ ई० में गद्दी पर बैठा। भोज के पुत्र महेन्द्र पाल प्रथम ने अपने पिता के गौरव को सुरक्षित रखा और पूर्व दिशा में अपने राज्य को विस्तारित भी किया। महेन्द्र पाल विद्या व्यसनी भी था। उसकी राजसभा को राजशेखर नामक प्रसिद्ध कवि अलंकृत करता था। प्रतिहार राजवंश सदा उन्नतिशील नहीं रह सका। इनका नाम-मात्र शासन और राज्य कन्नौज में लगभग ग्यारहवीं शती के मध्य भाग तक रहा। इन प्रतिहारों ने अपने उन्नति के दिनों में अरब के आक्रमणकारियों से भारत की रक्षा की।

प्रतिहारों के पश्चात् कन्नौज में गहरवार राजवंश की प्रतिष्ठा ग्यारहवीं शती के अन्तिम भाग में हुई। गहरवार वंश के प्रथम राजा चन्द्र देव ने लगभग पूरे उत्तर प्रदेश में अपना राज्य फैलाया। इस वंश में गोविन्द चन्द्र नामक राजा लगभग १११४ ई० में गद्दी पर बैठा। इसके पहले वह ११०४ ई० से १११४ ई० तक युवराज था। उसने अपना राज्य मगध देश तक फैलाया। मध्य देश में गोविन्द चन्द्र का प्रभुत्व लगभग ५० वर्षों तक रहा। उसने भारत के पुण्यतीर्थों की रक्षा करने के लिये तुर्कों से कई स्थानों पर मोर्चे लिए। गोविन्द के पुत्र विजय चन्द्र ने भी मुसलमान आक्रमणकारियों से युद्ध किया, पर विजय चन्द्र के पुत्र जयचन्द्र ने दिल्ली के राजा पृथ्वीराज से शत्रुता होने के कारण मुहम्मद गोरी का आक्रमण होने पर

पृथ्वीराज का साथ नहीं दिया। परिणाम यह हुआ कि पहले पृथ्वीराज का सर्वनाश हुआ और फिर गोरी से युद्ध होने पर ११६४ ई० में जयचन्द्र मार डाला गया। इसी जयचन्द्र की राजसभा में नैषधीय चरित और खण्डन-खण्ड-खाद्य आदि ग्रन्थों के रचयिता महाकवि श्री हर्ष रहते थे।

चौहान वंश का सबसे बड़ा राजा पृथ्वीराज (११७६—११९२ ई०) हुआ। यह अपने युग के भारतीय राजाओं का नेता था। मुसलमान आक्रमणकारियों का सामना करते समय अन्य भारतीय राजपूत राजाओं ने यथाशक्ति इसकी सहायता भी की थी। इसने ११९१ ई० में गोरी को पराजित किया। गोरी घायल होकर भाग चला, पर वह एक वर्ष बाद फिर सैन्य-संगठन करके आ पहुँचा और पृथिवीराज को पराजित किया। कहते हैं कि इस युद्ध में जयचन्द्र ने साथ केवल इसीलिये नहीं दिया था कि उसकी पुत्री संयोगिता के स्वयंवर के अवसर पर पृथ्वीराज ने उसका अपहरण कर लिया था। भारतीय साहित्य में यह कहानी विभिन्न भाषाओं में लिखी मिलती है।

बंगाल में आठवीं शती के उत्तर भाग में पाल वंशी राजाओं का प्रभुत्व था। हर्ष की मृत्यु के पश्चात् बंगाल में प्रायः अराजकता सी रही। अन्त में प्रजा ने एकत्र होकर गोपाल नामक एक प्रतिभाशाली किन्तु साधारण मनुष्य को राजा चुन लिया। पाल वंश का सबसे महान् राजा गोपाल का पुत्र धर्मपाल हुआ। उसने कन्नौज के राजा इन्द्रायुध को पराजित करके उसके पुत्र चक्रायुध को राजा बनाया। धर्मपाल ने विक्रमशिला में महान् बौद्ध विश्वविद्यालय की स्थापना की थी।

धर्मपाल का पुत्र देवपाल अपने पिता की भाँति ही वीर और साम्राज्यवर्धक शासक था। देवपाल का प्रभुत्व सारे उत्तर

भारत में व्यापक था। उसने आक्रमणकारी हूणों का वीरता से सामना किया। देवपाल ने बौद्ध धर्म की उन्नति के लिये तथा भिक्षुओं के सुख के लिये अनेक विहार बनवाये और कई गाँव दान दिये। इसका शासन-काल ८१५ ई० से ८५५ ई० के बीच रहा होगा। पालवंश के राजा गोविन्दपाल का लिखवाया हुआ ११७५ ई० का एक लेख मिलता है। इसके पश्चात् इस राजवंश का सम्भवतः अन्त हो गया।

पाल वंश के पश्चात् बंगाल में सेन वंश का प्रभुत्व बढ़ा। बारहवीं शती के अन्तिम भाग में सेनवंश के महाराज लक्ष्मण सेन की राजसभा के कवि धोयिक ने पवनदूत और जयदेव ने गीतगोविन्द लिखे।

कलचुरि राजवंश की नींव जबलपुर के समीप त्रिपुरी में नवीं शती के अन्तिम भाग में पड़ी। इस वंश में गांगेयदेव (१०१९ ई० से १०४१ ई० तक) प्रसिद्ध राजा हुआ। उसने कांगड़ा की घाटी तक विजय की और प्रतिहारों की शक्ति क्षीण हो जाने पर प्रयाग और वाराणसी प्रदेश को अपने राज्य में सम्मिलित किया। उसके राज्य में तीरभुक्ति (तिरहुत) प्रदेश भी शामिल था।

गांगेयदेव का पुत्र लक्ष्मीकर्ण (१०४१—१०७२ ई०) कलचुरि वश का सबसे बड़ा राजा हुआ। उसने बनारस में कर्णमेरु नामक शिव का मन्दिर बनवाया। प्रारंभ में तो उसका प्रभुत्व सारे भारत में विराजमान था, पर अन्तिम काल में शक्ति क्षीण हो जाने पर लक्ष्मीकर्ण को बुरे दिन देखने पड़े। बारहवीं शती तक कलचुरियों का राजवंश ज्यों-त्यों चला।

बुन्देल खण्ड के प्राचीन सांस्कृतिक अवशेष जो आज-कल खजुराहो, कालजर और महोबा में पाये जाते हैं, अपने निर्माता

चन्देल वंशी राजाओं का स्मरण कराते हैं। खजुराहो (छतरपुर में) के विशाल और सुरुचिपूर्ण मन्दिर, कालंजर (बाँदा में) के सुदृढ दुर्ग और महोबा (हमीरपुर में) में राजप्रसाद क्रमशः तत्कालीन धार्मिक, सैनिक और राजकीय अभ्युदय के स्मारक स्वरूप खड़े हैं।

नवीं शती के आरम्भ-काल में चन्देलों का प्रभुत्व बढ़ना आरंभ हुआ। इस वंश में यशोवर्मा प्रथम यशस्वी राजा हुआ। उसने प्रतिहारों से कालंजर जीता था और खजुराहो के प्रसिद्ध मन्दिर में विष्णु की स्थापना की। यशोवर्मा का पुत्र धंग (९५० से १००२ ई०) महान् विजयी राजा हुआ। अपने शासन-काल के अन्तिम दिनों में वह संभवतः बनारस तक विजय करता आ पहुँचा था। सुबुक्तिगीन गोरी का सामना करने के लिये जयपाल ने जो राजसंघ बनाया था, उसमें धग भी अन्त तक सम्मिलित रहा। धंग का पुत्र गण्ड भी महमूद का सामना करने के लिए आनन्द-पाल शाही के द्वारा बनाये हुए संघ में १००८ ई० में सम्मिलित हुआ था। महमूद ने इस संघ को पराजित कर दिया, पर गण्ड इस पराजय को भूला नहीं। उसने १०१८ ई० में महमूद की सत्ता को निर्विरोध स्वीकार कर लेने वाले प्रतिहार राजा राज्यपाल को दण्ड देने के लिये कन्नौज पर आक्रमण करके उसका वध किया। महमूद इस आक्रमण का समाचार पाकर चट गण्ड पर आक्रमण करने के लिये गजनी से चल पड़ा और गण्ड के राज्य को अपनी लूट-पाट से नष्ट कर दिया। चन्देल वंश के अन्तिम दो प्रसिद्ध राजा मदन वर्मा (११२९—११६३ ई०) और परमाल या परमर्दि (११६५—१२०३ ई०) हुए। मदन वर्मा ने अपनी विजयों से गुजरात, मालवा और काशी प्रदेशों में अपना प्रभुत्व स्थापित किया। मदन वर्मा का

बनवाया हुआ मदन-सागर झील महोबा में है। उसने १२०३ ई० में कालंजर पर आक्रमण करने वाले कुतुबुद्दीन ऐबक का वीरता से सामना किया, पर अन्त में पराजित हुआ।

मालवा के परमार वंश के राजाओं में वाक्पति लगभग ९७४ ई० में गद्दी पर बैठा। इसके विभिन्न नाम मुंज, उत्पल-राज, श्री वल्लभ और अमोघवर्ष भी मिलते हैं। वह महान् विजेता उच्चकोटि का विद्वान् और विद्वानों का आश्रयदाता था। दक्षिण भारत के प्रदेशों में पहुँच कर उसने बारंबार विजय प्राप्त की। वाक्पति ने अनेक मन्दिर और झीलें बनवाईं। उसकी राजसभा में पद्मगुप्त, धंनजय, धनिक और हलायुध आदि विद्वान् थे। परमार वंश का चिर स्मरणीय विद्याविलासी राजा भोज हुआ। उसकी सैनिक और राजनीतिक प्रतिभा का प्रभाव तत्कालीन भारत के अधिकांश भाग पर पड़ा। उसका सारा जीवन युद्ध करते ही बीता। यह बताना कठिन है कि उसने भारत के तत्कालीन राजाओंमें से किससे युद्ध न किया। हाँ, जय और पराजय दोनों हाथ लगीं।

भोज के लिखे हुए ग्रन्थ आयुर्वेद, ज्योतिष, धर्म, व्याकरण, वास्तु शास्त्र, अलंकार, कोश और कला आदि विषयों पर मिलते हैं। उसने धारा में महाविद्यालय की स्थापना भी की। भोज ने अनेक शैव मन्दिरों को बनवाया। उसकी राजधानी धारा नगरी उस समय भारत में सर्वोत्तम गिनी जाती थी। उसने धारा नगरी को प्रसारित किया और उसके समीप मनोरम झील बनवाई।

गुजरात में अन्हिलवाड (आधुनिक पाटन) में मूलराज ने चालुक्य (सोलंकी) राजवंश की नींव डाली। इस वंश में जयसिह सिद्ध राज (१०९३—११४३ ई०) और कुमार पाल

(११४३—११७२ ई०) प्रसिद्ध राजा हुए। जयसिंह ने विजय करके मालवा को भी अपने राज्य में मिला लिया। उसने कवियों और विद्वानों को आश्रय देकर उनका उत्साह बढ़ाया, धार्मिक सहिष्णुता बढ़ाने के लिये विभिन्न मतावलम्बियों के विवादों का प्रबन्ध किया और अनेक धार्मिक मन्दिरों का निर्माण कराया। कुमार पाल ने अनेक विजयों के पश्चात् पहले तो अपने राज्य की सुदृढ व्यवस्था की और फिर राष्ट्र के सांस्कृतिक उत्थान की ओर ध्यान दिया। कहा जाता है कि उसने सोमनाथ के मन्दिर का पुनः निर्माण कराया। कुमारपाल ने अपने राज्य में पशु-हिंसा का निषेध कर दिया। संभवतः वह अपनी राज-सभा के महान् विद्वान् जैनाचार्य हेमचन्द्र की संगति में जैन हो गया था। हेमचन्द्र के लिखे हुए विविध विषयों पर बीसों ग्रन्थ मिलते हैं।

ऊपर जो ऐतिहासिक चर्चा की गई है, वह प्रधानतः विन्ध्या-चल पर्वत या नर्मदा के उत्तर पड़ने वाले उत्तर भारत के सम्बन्ध में है। इस युग का दक्षिण भारत का इतिहास उत्तर भारत के इतिहास से समय-समय पर सम्बद्ध और असम्बद्ध भी रहा है। राजाओं ने अपने राज्य की सीमा बनाते समय केवल अपनी सुविधा का विचार किया, दिशाओं और प्रदेशों का नहीं। ऐसी परिस्थिति में उत्तर भारत और दक्षिण भारत का अधिकांश भाग अशोक की छत्र-छाया में पल्लवित और पुष्पित हो सका था। राजाओं के अतिरिक्त विद्वानों, ऋषियों और महर्षियों ने भी उत्तर और दक्षिण भारत जैसी सीमा को मान्यता नहीं दी। उनके उपदेश से सारा भारत समान रूप के लाभ उठा सका था। फिर भी उत्तर और दक्षिण भारत के बीच पर्वत मालायें पथिकों के मार्ग में बाधा डालती हैं और इस कारण से ही दक्षिण भारत की

अपनी निजी राजनीतिक विशेषतायें भी रहीं, जिनका उत्तर भारत से कम सम्बन्ध रहा है। दक्षिण के कुछ प्रमुख राजवंशों का परिचय नीचे दिया जाता है।

चालुक्य वश की नींव दक्षिण भारत में छठीं शती के आरम्भ में जयसिंह और उसके पुत्र रणराग ने डाली। इस वंश में पुलकेशो द्वितीय (६०६—६४२ ई०) महान् विजेता हुआ। उसने केवल दक्षिण भारत के राजाओं को ही नहीं अपितु उत्तर भारत के महान् सम्राट् हर्षवर्धन को भी युद्ध में परास्त किया। इसका साम्राज्य इतना विशाल हो चला कि उसने ६१५ ई० के लगभग अपने राज्य का पूर्वी भाग अपने छोटे भाई कुब्ज-विष्णु वर्धन-विषमसिद्धि को सौंप दिया। आगे चल कर विष्णु वर्धन का पुत्र जयसिंह प्रथम अवसर पाने पर स्वतन्त्र राजा बन बैठा। दक्षिण में पुलकेशी ने कावेरी के दक्षिण तक विजय प्राप्त की। उस प्रदेश के तत्कालिक चोल, पाण्ड्य और केरल राजाओं ने उससे शीघ्र ही सन्धि करके उसकी प्रभुता स्वीकार कर ली। पुलकेशी ने ईरान के बादशाह खुसरु द्वितीय के साथ राजदूत और उपहारों का आदान-प्रदान किया। पुलकेशी द्वितीय के पश्चात् पुत्र परम्परा से विक्रमादित्य (६४२—६८० ई०), विनयादित्य (६८०—६९६ ई०) और विजयादित्य (६९६—७३३ ई०) क्रमशः राजा हुए। ये सभी महान् योद्धा और विजेता थे। इस वंश का अन्तिम राजा कीर्तिवर्मा (७४६—७५७ ई०) था।

चालुक्यों के शासन काल में राष्ट्र की उन्नति होती रही। वे स्वयं तो ब्राह्मण-धर्म के अनुयायी थे, पर उनके राष्ट्र में जैन-धर्म का प्रसार भली भाँति होता रहा। जैन आचार्यों को विविध प्रकार के दान और सम्मान मिलते रहे। ब्रह्मा, विष्णु और

शिव की प्रतिष्ठा के लिये वातापि और पत्तदकल के मन्दिर बनवाये गये।

राष्ट्रकूट वंश का ध्रुव निरुपम ७७६ ई० में अपने भाई गोविन्द द्वितीय को सिंहासन से हटा कर राजा बन बैठा। वह इस वंश का प्रथम प्रसिद्ध राजा था। उसने कांची के पल्लवों को अनायास ही वश में कर लिया और उज्जैन के तत्कालीन प्रतिहार वंशी राजा वत्सराज को परास्त करके गंगा-यमुना के बीच के प्रदेश पर शासन करने वाले इन्द्रायुध पर भी आक्रमण किया। ध्रुव निरुपम ने गोविन्द तृतीय को अपना योग्य उत्तराधिकारी चुना। उसने भी सुदूर दक्षिण के चोल और पाण्ड्य राज्यों से लेकर उत्तर में मालवा, कन्नौज और गौड देशों पर युद्ध-स्थल में विजय प्राप्त करते हुए प्रभुत्व स्थापित किया। गोविन्द के पश्चात् बाल्यावस्था में अमोघवर्ष राजा हुआ। वह इतने बड़े राज्य को सँभाल सकने में असमर्थ था। वह साहित्यिक और धार्मिक प्रवृत्तियों के कारण सफल राजा न हो सका। अमोघवर्ष ने राष्ट्रकूट वंश की राजधानी मान्यखेट में स्थापित की। इस वंश का अन्तिम महान् राजा कृष्ण तृतीय (९३९—९६८ ई०) था। उसने भी अपने महान् पूर्वजों की भाँति उत्तर भारत में पर्याप्त विजय प्राप्त की और दक्षिण में केवल चोल, पाण्ड्य और केरल राजाओं को ही अधीन नहीं किया, अपितु सिंहल (लंका) के राजा से भी अपनी अधीनता स्वीकार करा ली। राष्ट्रकूट वंश के राजाओं का तत्कालीन अरबी लेखकों ने बल्हर (वल्लभराज) नाम से उल्लेख किया है और उनको संसार के चार प्रमुख राजाओं में गिना है। इस वंश के शासन-काल में ब्राह्मण और जैन धर्मों की उन्नति होती रही। तत्कालीन

शिव का मन्दिर, जो चट्टान काट कर बनाया गया है, एलौरा में मिलता है।

सुदूर दक्षिण में कांची में पल्लवों ने लगभग चौथी शती में राज्य की स्थापना की। पल्लव-वंश में प्रथम महान् राजा सिंह-विष्णु छठीं शती के अन्तिम भाग में हुआ। इसने चोल आदि दक्षिण के सभी राष्ट्रों को ही नहीं जीता, अपितु लंका के राजा को भी पराजित किया। मामल्लपुर की वराह-गुहा में सिंहविष्णु और उसकी दो रानियों का चित्र मिलता है। सिंहविष्णु का पुत्र महेन्द्रवर्मा सातवीं शती के आरम्भ में राजा हुआ। उस समय से लेकर पल्लव वंश का वातापि के चालुक्यों के साथ बैर आरम्भ हुआ जो चिरकाल तक चलता रहा। ये दोनों वंश सुदूर दक्षिण पर अपना एकाधिकार चाहते थे। चालुक्य वंश के पुलकेशी द्वितीय ने यदि कांची के पल्लवों को उजाड़ फेंका तो महेन्द्र वर्मा के पुत्र नरसिंह वर्मा प्रथम ने पुलकेशी को कई युद्धों में पराजित करके वातापि को मटियामेट कर दिया। इनके युद्ध वंशानुक्रम से चलते रहे, कभी पल्लवों की जीत हुई तो फिर कभी चालुक्यों को विजय मिली। नरसिंह वर्मा के शासन-काल में ६४२ ई० में ह्वेनसाँग कांची आया था। उसने इस प्रदेश का प्रशंसात्मक वर्णन किया है। सातवीं शती के अन्तिम भाग में नरसिंह वर्मा द्वितीय का शासन-काल आरम्भ हुआ। महाकवि दण्डी संभवतः उसकी राजसभा को अलंकृत करता था। पल्लवों के राजवंश का अन्त दसवीं शती आते-आते हो गया।

पल्लव राजवंश की सबसे महत्त्वपूर्ण देन सांस्कृतिक अभ्युत्थान है। साहित्य, धर्म और शिल्प के क्षेत्र में उस समय अपूर्व प्रगति हुई। तत्कालीन राजाओं ने इस दिशा में पूरा सहयोग

दिया। उस समय के बने हुए धार्मिक मन्दिरों से दक्षिण भारत का अतीत गौरव आज भी आँखों के सामने वर्त्तमान है। पल्लव-वास्तु की निजी विशेषतायें हैं, जिनका उल्लेख आगे किया जायेगा।

चोल राज्य में प्रायः आधुनिक तंजोर और त्रिचनापल्ली तथा पुदुकोट्टा के कुछ भाग सम्मिलित थे। इस राज वंश का सर्वप्रथम उल्लेख वैयाकरण कात्यायन की पुस्तक तथा महाभारत में मिलता है। ऐसी परिस्थिति में इसका आरंभ-काल ई० पू० चौथी शती मानना चाहिए। इस वंश में करिकाल, पेरुनर किल्ली, कोच्चेंगण आदि प्रसिद्ध राजा हुए। ह्वेनसांग इस प्रदेश में भी आया था। उसने यहाँ की जलवायु, लोगों की रहन-सहन तथा धार्मिक प्रगति की कटु आलोचना की है। पल्लवों ने इस राजवंश की जड़ ही काट दी थी, पर एक बार और नवीं शती में पल्लवों का पतन होने पर चोलों ने उन्नति करना आरम्भ किया। ८५० ई० के लगभग विजयालय ने उरैयुर के समीप अपने राज्य की स्थापना की। वंशानुक्रम से चोलों का राज्य बढ़ता गया। परान्तक प्रथम (९०७—९५३ ई०) को जो राज्य मिला उसमें उत्तर में मद्रास तक तथा दक्षिण में कावेरी तक भूभाग सम्मिलित थे। उसने पाण्ड्य राज्य को भी जीत लिया और पल्लवों का सर्वनाश करने के पश्चात् उत्तर में वेल्लोर तक की सीमा बढ़ाई। परान्तक के पश्चात् लगभग ३० वर्षों तक चोल वंश की अवनति के दिन रहे, पर ९८५ ई० में राजराज प्रथम ने एक बार और चोल राज्य को उन्नति के शिखर पर पहुँचा दिया। वह महान् विजयी और प्रतिभाशाली सम्राट् हुआ। उसने तत्कालीन दक्षिण भारत के राजाओं को युद्ध में पराजित किया और उत्तरी लंका तथा अरब सागर के द्वीपों में भी अपनी विजय-

पताका फहराई। इस प्रकार उसके राज्य में आधुनिक मद्रास प्रान्त लगभग पूरा का पूरा, कुर्ग, मैसूर और लंका के कुछ भाग तथा अन्य द्वीप सम्मिलित थे। राजराज ने तंजोर में शिव का मनोरम मन्दिर बनवाया। इस मन्दिर का नाम राजराजेश्वर है। यह मन्दिर अपनी विशालता, सरलता और कलात्मक परिचित्रयों के लिये सुप्रसिद्ध है। इसकी दीवालों पर राजराज की विजयों का वर्णन उत्कीर्ण है। राजराज शैव होते हुए भी कट्टर नहीं था। उसने विष्णु के कई मन्दिर बनवाये और बौद्ध विहारों के लिये कई गाँव दान दिये।

राजराज का पुत्र राजेन्द्र प्रथम सर्वथा अपने पिता के योग्य ही था। उसने १०१४ ई० से १०४४ ई० तक शासन किया। राजेन्द्र ने अपने पिता के राज्य से ही सन्तोष न करके अन्य प्रदेशों को जीतने की तत्परता दिखलाई। दक्षिण भारत में जो राजा अभी चोलों के अधीन नहीं हुए थे, उनको जीत कर पूरे लंका को अपने राज्य में मिला लिया। दक्षिणी भारत पर विजय कर लेने के पश्चात् वह उत्तर भारत की ओर बढ़ा और उड़ीसा, दक्षिण कोशल, दण्ड-भुक्ति (मिदनापुर का समीपवर्त्ती प्रदेश), बंगाल आदि के राजाओं को युद्ध में परास्त करके लौट आया वह अपने साथ केवल गंगा-प्रदेश के कुछ शैवों को लाया। उसने नौ-सेना से मलय-प्रदेश के राजा संग्राम विजयोत्तुंग वर्मा को पराजित किया। राजेन्द्र प्रथम ने अपनी नई राजधानी गंगा-कुंडपुर में बनाई। इस राजधानी में उसने विशाल राजप्रासाद, देवमन्दिर और झीलें बनवाईं।

इस राजवंश में इसके पश्चात् भी अन्य पराक्रमी राजा राजाधिराज (१०४४-१०५२ ई०), राजेन्द्र द्वितीय (१०५२-१०६३-ई०), वीर राजेन्द्र (१०६३-१०७० ई०), कुलोत्तुंग (१०७०-११२२

ई०) आदि हुये। यह राजवंश ज्यों-त्यों १२६७ ई० तक चलता रहा।

चोलों ने अपने राज्य में शान्तिमय शासन की सुव्यवस्था रखी, सिंचाई के लिये झील, यात्रियों के लिए अच्छी सड़कें तथा अध्ययन-अध्यापन के लिये मन्दिर बनवाये गये। इनके शासन-काल में शिल्प और कलाओं की विशेष प्रगति हुई। चोल राजा शैव होते हुये भी अन्य धर्मों की प्रगति के मार्ग में कभी बाधक नहीं हुए। बौद्ध और जैन धर्म के अनुयायियों को राज्य की ओर से पूरी सुविधायें प्राप्त हुईं।

दक्षिण भारत के सबसे अधिक दक्षिणी भूभाग पर पाण्ड्य वंश का शासन रहा है। पाण्ड्य राज्य में प्रायः आधुनिक मदुरा, रामनाद और तिन्नेवेल्ली जिले थे। मधुरा या मदुरा इसकी राजधानी थी। पाण्ड्य-राजवंश का सर्वप्रथम उल्लेख कात्यायन, कौटिल्य और वाल्मीकि आदि की रचनाओं में मिलता है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि ई० पू० चौथी शती में पाण्ड्य राज्य की स्थापना हो चुकी थी। उस समय से लेकर भारतीय साहित्य में प्रायः इस राज्य का उल्लेख मिलता है, पर इन उल्लेखों में ऐतिहासिक सामग्री प्रचुर मात्रा में नहीं मिलती। सातवीं शती से ही इस वंश का इतिहास कडुंगोन नामक राजा से आरंभ होता है। उसने पाण्ड्य राज्य की नींव को सुदृढ कर दिया और फिर तो पुत्र परम्परा से अरिकेसरी मार वर्मा, कोच्चडयन-रणधीर, मारवर्मा राजसिंह, नेडुंजडयन वरगुण (७६५-८१५ ई०) आदि ने चोल, केरल आदि पड़ोसी राज्यों पर आक्रमण करके अपने राज्य की सीमा को बढ़ाया। वरगुण के पुत्र श्रीमार श्री वल्लभ (८१५-८६२ ई०) ने लंका को जीत लिया और पल्लव, गंग और चोलों के संघ को आधुनिक कुंभकोनम

में परास्त किया। श्री वल्लभ ही इस वंश का अन्तिम महान् शासक था। उसके पश्चात् जो राजा हुए, वे पड़ोसी राजाओं की शक्ति का सामना न कर सके। अन्त में चोलों ने पाण्ड्यों को बुरी तरह पराजित किया और ६२० ई० के लगभग पाण्ड्य राजाओं को अपने अधीन कर लिया। पाण्ड्यों की यह अधीनता लगभग ३०० वर्षों तक बनी रही, यद्यपि वे समय-समय पर अपनी परतन्त्रता का जुआ फेंकने का प्रयत्न करते रहे। अन्त में मारवर्मा सुन्दर पाण्ड्य प्रथम (१२१६-१२३८ ई०) ने चोलों को परास्त किया और स्वतन्त्र राजा बन बैठा। इस प्रकार दक्षिण भारत में पाण्ड्यों का प्रभुत्व एक वार और बढ़ा और एक सौ वर्षों से अधिक तक रहा। ह्वेनसांग ६४० ई० में पाण्ड्य-प्रदेश में पहुँचा था।

केरल राज्य में प्रायः आधुनिक मालाबार तथा त्रावनकोर और कोचीन के राज्य थे। इस राज्य के पश्चिमी समुद्र तट से विदेशी व्यापार होता था। वहीं पर आगस्टस का एक मन्दिर भी रोम के व्यापारियों के द्वारा बनवाया गया था। कम से कम अशोक के समय से लेकर केरल राज्य १४ वीं शती के पूर्वार्ध तक रहा। केरल राजवंश में कोई भी महान् विजेता न हुआ।

साधन

प्राचीन संस्कृति का परिचय प्राप्त करने के लिये प्रधान रूप से इस देश के पूर्वजों की कृतियाँ तथा भारत में आने वाले विदेशी यात्रियों के ग्रन्थ उपयोगी सिद्ध हुए हैं। पूर्वजों की कृतियाँ साहित्य, शिलालेख, ताम्रपत्र, मुद्रा, शिल्प, अस्त्र-शस्त्र आदि के रूप में मिलती हैं। आज से लगभग ५००० वर्ष पहले सिन्ध-प्रदेश में हड़प्पा और मोहेन्जोदड़ो नगर बसे हुए थे।

इन नगरों के ध्वंसावशेष की खुदाई करने पर उस समय के लोगों की प्रायः सभी कृतियाँ जीती-जागती मिली हैं। इनके आधार पर उस समय की संस्कृति का प्रायः पूरा परिचय प्राप्त हो जाता है। सिन्धु-सभ्यता के पहले की संस्कृति का कुछ-कुछ परिचय तत्कालीन अर्ध-सभ्य लोगों के पत्थर तथा धातुओं के अस्त्र-शस्त्रों से लगता है। इनके बनाये हुए बर्तन और चित्र-कारियाँ भी मिलती हैं। प्राचीनकाल के अन्य प्रसिद्ध नगर, जिनके ध्वंसावशेष इस दृष्टि से उपयोगी हैं, तक्षशिला, सारनाथ, पाटलिपुत्र, नालन्दा, क़ौशाम्बी आदि हैं। इन्हीं ध्वंसावशेषों के समकक्ष प्राचीन काल के मन्दिर, स्तूप और गुफायें हैं जो आज भी मिलती हैं।

भारत का प्राचीन साहित्य असीम है। यह साहित्य संस्कृत और प्राकृत भाषाओं में मिलता है। संस्कृत भाषा के दो रूप प्राचीन अथवा वैदिक तथा नवीन अथवा लौकिक हैं। वैदिक संस्कृत में वेद, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् कोटि के ग्रन्थों की रचना हुई थी। वैदिक संस्कृत का विकसित रूप ही लौकिक संस्कृत है। इसका प्रारम्भ सूत्र साहित्य से होता है। संस्कृत के आदि काव्य वाल्मीकि कृत रामायण और व्यास कृत महाभारत हैं। रामायण और महाभारत के आधार पर संस्कृत में असंख्य महाकाव्यों और नाटकों की रचना हुई। है। इनके अतिरिक्त अनेक काव्य ग्रन्थ गद्य-शैली में लिखे हुए मिलते हैं।

संस्कृत में काव्य-ग्रन्थों के साथ ही साथ शिल्प-शास्त्र, अर्थ-शास्त्र, नीति-शास्त्र, व्याकरण, ज्योतिष, छन्दः शास्त्र, काव्य-शास्त्र गणित और आयुर्वेद विषयक ग्रन्थों की रचना हुई है। संस्कृति

की दृष्टि से संस्कृत के स्मृति और पुराण ग्रन्थों का अत्यधिक महत्त्व है।

प्राकृत साहित्य की मुख्य रूप से तीन शाखायें हैं—पालि, प्राकृत (शौरसेनी और महाराष्ट्री) तथा अपभ्रंश। इन भाषाओं में प्रायः धार्मिक साहित्य की रचना हुई है। संस्कृत और प्राकृत भाषाओं के साहित्य के अतिरिक्त सुदूर दक्षिण की भाषा तामिल का साहित्य ईसवी शती के पहले से ही लिखा हुआ मिलता है।

प्राचीन काल के सर्वप्रथम शिलालेख सम्राट् अशोक के मिलते हैं। अशोक तीसरी शती ई० पू० में केवल भारत का ही नहीं, तत्कालीन विश्व का सर्वश्रेष्ठ सम्राट् था। उसने भारत के विभिन्न भागों में प्रजा और राजकीय कर्मचारियों को सत्पथ पर अग्रसर करने के लिए सन्देश लिखवाया। दूसरी शती ई० पू० में उत्कल के राजा खारवेल ने हाथीगुम्फा का शिलालेख लिखवाया। इसके पश्चात् के अनेक छोटे-बड़े राजाओं के शिलालेख सारे भारत में मिलते हैं। इन शिलालेखों के वर्णन ऐतिहासिक और सांस्कृतिक प्रमाणों के लिये पूर्णरूप से विश्वसनीय माने जाते हैं।

प्राचीन काल की मुद्रायें भी अपने समय की संस्कृति का परिचय देती हैं। इस देश में सिन्धु सभ्यता के युग से ही मुद्राओं का प्रयोग होता आया है। विदेशों की मुद्रायें भी कई स्थानों पर पाई गई हैं। इन मुद्राओं से सिद्ध होता है कि जिन देशों से वे यहाँ आई हैं उनसे भारत का व्यापारिक सम्बन्ध प्राचीन काल में था। देशी मुद्राओं से तत्कालीन इतिहास, धर्म, सामाजिक दशा तथा कलात्मक प्रगति का परिचय प्राप्त होता है।

विदेशी यात्रियों ने प्राचीन काल में असह्य कष्टों को झेल कर भारत की तत्कालीन परिस्थितियों का परिचय प्राप्त किया

और उनका वर्णन अपने देशवासियों के उपयोग के लिए लिखा। उस समय भारतीय संस्कृति की गौरव-गाथा एशिया और योरप में सर्वत्र फैली हुई थी। भारत ज्ञान और धर्म का गुरु माना जाता था। बौद्ध धर्म के अनेक धार्मिक अनुयायी उस धर्म के पुण्य तीर्थों को देखने के लिए तथा धार्मिक ग्रन्थों को पढ़ने के लिए और अनुवाद करके अपने साथ ले जाने के लिए आये थे। विदेशी यात्रियों के अतिरिक्त अनेक व्यापारी तथा सैनिक भी कार्यवश भारत आये और उन्होंने इस देश के वर्णन से अपने देश के साहित्य को समृद्धशाली बनाया। इस प्रकार के प्रसिद्ध विदेशी लेखक ग्रीस के हेरोडोटस, मेगस्थनीज, प्लीनी, चीन के फाह्यान, ह्वेनसांग, इत्सिंग, अरब के सुलेमान, अबूजैदुल हसन, इब्न खुर्दवा, अलमसूदी, अल इद्रीसी तथा फारस का अलबेरूनी आदि हैं।

युग-विभाजन

संस्कृति की दृष्टि से भारतीय इतिहास के तीन विभाग किये जा सकते हैं—प्राचीन, मध्ययुगीन तथा आधुनिक। प्राचीन संस्कृति का समय सभ्यता के आदि काल से लगभग बारहवीं शती ईसवी तक माना गया है। इसके पश्चात् मध्ययुगीन संस्कृति प्रधानतः इस्लाम धर्म को मानने वाली जातियों की संस्कृति से आदान-प्रदान करती हुई विकसित होती है और ऐसी परिस्थिति में अपनी प्राचीन परम्परा से कई क्षेत्रों में स्खलित होती हुई प्रतीत होती है। मध्य युग में इस देश के सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, दार्शनिक तथा साहित्यिक प्रवाह की जो धारा बही, वह कई अंशों में उपर्युक्त विदेशी संस्कृति की धारा से मिली-जुली है। आधुनिक संस्कृति का

आरम्भ अठारहवीं शती ईसवी के अन्त से माना जा सकता है। इस युग में भारतीय संस्कृति योरप की पाश्चात्य संस्कृति के सम्पर्क में आकर अपनी रूप-रेखा बदलती हुई सी प्रतीत होती है।

सांस्कृतिक धारा का उपर्युक्त युग-विभाजन केवल उतनी ही मात्रा में ठीक माना जाना चाहिये, जितना गंगा नदी की धारा के विषय में यह कहना कि वह तीन है—पर्वत प्रदेश की गंगा, समतल प्रदेश की गंगा और संगम प्रदेश की गंगा। वस्तुतः गंगा की धारा तो एक ही है। इसी प्रकार भारतीय संस्कृति की भी एक ही धारा है। समयानुकूल परिवर्तन और विकास का सरलता से परिचय देने के लिए उसको तीन युगों में विभाजित किया गया है।

भारत में आज भी प्राचीन काल के जीवन के आदर्श, धर्म, आचार-व्यवहार तथा कला की परम्परा अपने प्राचीन रूप में देखी जा सकती है। प्राचीन संस्कृति प्रधानतः अपने मौलिक रूप में और साथ ही इस्लामी और अँगरेजी संस्कृतियों को अपनाती हुई आज भी जीवित है। इस देश में लोगों का प्राचीनता से अतिशय प्रेम रहा है और यही कारण है कि संस्कृति की कोई भी धारा कदाचित् ही लुप्त हो सकी है।

व्यक्तित्व का विकास

संस्कार

मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास में संस्कारों का सर्वप्रथम स्थान है। लोगों का सदा से ही विश्वास रहा है कि मनोविचारों का प्रभाव मनुष्य की कार्य करने की प्रवृत्ति और शक्ति पर पड़ता है। इस प्रकार संस्कार भविष्य के लिए प्रगति का सन्देश देते हैं और उत्साह बढ़ाते हैं। मानव-जीवन की प्रगति के पथ में संस्कार सोपान के समान हैं, जो क्रम से उसको अधिक ऊँचा उठाते जाते हैं। पराशर ने संस्कारों की उपयोगिता का उल्लेख इन शब्दों में किया है :—

चित्रकर्म यथानेकै रङ्गैरुन्मील्यते शनैः
ब्राह्मण्यमपि तद्वत्स्यात्संस्कारैर्विधिपूर्वकैः ॥

(जिस प्रकार चित्रण अनेक रंगों के द्वारा प्रस्फुटित होता है, वैसे ही विधिपूर्वक सम्पन्न किए हुए संस्कारों के द्वारा ब्राह्मणत्व का विकास होता है।)

गर्भाधान

सबसे पहला संस्कार गर्भाधान है। इसके द्वारा माता-पिता अच्छी सन्तति पाने की कामना करते थे। इस संस्कार के आरम्भ में वैदिक मन्त्रों के द्वारा हवन करके देवताओं का आह्वान किया जाता था और उनसे प्रार्थना की जाती थी कि वे माता के गर्भ में योग्य सन्तान धारण करा दें।

देते हुए गा उठते थे—त्वमन्नपतिरन्नादो वर्धमानो भूयाः। (तुम अन्न के स्वामी हो, तुममें अन्न ग्रहण करने की योग्यता है, तुम बढ़ो।)

चूडाकर्म

शिशु की अवस्था लगभग एक वर्ष हो जाने पर चूडाकर्म का उत्सव मनाया जाता था। इस सस्कार में पहली बार शिशु का केश काटा जाता था और सिर पर चूड (शिखा) छोड़ दिया जाता था। देवताओं की स्तुति करते हुए पिता विधिपूर्वक स्वयं केश काट कर कुल की रीति के अनुसार एक से पाँच चूड छोड़ देता था। इसके पश्चात् नाई केश को सुधार देता था। चूडाकर्म के आरम्भ में हवन विधि से देवताओं का आवाहन किया जाता था और उनकी उपस्थिति में इस संस्कार के द्वारा शिशु को पवित्र किया जाता था।

कन्याओं के लिये जातकर्म से लेकर चूडाकर्म तक संस्कार बिना मन्त्र पढ़े हुए सम्पन्न किये जाते थे।

उपनयन

बालक को आचार्य के समीप ले जाकर उसे वेदाध्ययन करने के लिये विद्यार्थी बना देने की क्रिया उपनयन संस्कार है। इस संस्कार के पश्चात् वह बालक ब्रह्मचारी कहलाता था। संस्कारों में उपनयन का सर्वोच्चस्थान है। इस सस्कार के लिये मनु ने नियम बनाया कि यदि कोई ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य बालक के व्यक्तित्व के सर्वोच्च विकास की कामना करता हो तो उनका उपनयन क्रमशः ५, ६ और ८ वर्ष की अवस्था में कर दे। साधारण परिस्थितियों में इन तीनों जातियों के उपनयन क्रमशः ८, ११ और १२ वर्ष की अवस्था में हो जाने चाहिए।

उपनयन के समय ब्रह्मचारी उत्तरीय और वास दो-वस्त्र धारण करता था। उत्तरीय से शरीर का ऊपरी भाग और वास से नीचे का भाग आच्छादित होता था। उत्तरीय और वास प्रायः मृग चर्म के होते थे। इस वेश में आये हुए बालक को आचार्य उपनयन विधि से अपनाता था। आचार्य विभिन्न देवताओं की स्तुति करते हुए उसका हाथ पकड़ता था और सविता से प्रार्थना करता था—देव सवितृ! यह आपका ब्रह्मचारी है, इसकी रक्षा करें, इसकी मृत्यु न हो। अग्नि की स्तुति करते हुए ब्रह्मचारी कहता था—मैं तेज से समायुक्त हो रहा हूँ, अग्नि मुझे मेधा, प्रजा और तेज दे। हे अग्नि, मैं तुम्हारे तेज से तेजस्वी, तुम्हारी शक्ति से शक्तिमान् और तुम्हारे प्रदाहन से तपस्वी बनूँ। इसके पश्चात् वह आचार्य का चरण पकड़ कर प्रार्थना करता था—महोदय! आप सावित्री का उच्चारण करें, महोदय! आप बोलें। आचार्य सावित्री पाठ पहली बार पदशः दूसरी बार आधा और तीसरी बार सम्पूर्ण करते थे। ब्रह्मचारी इस मन्त्र का पाठ करते हुए गा उठता था—'ओ३म् भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्'। [ओ३म् भूः (पृथिवी), भुवः (वायुमण्डल), स्वः (स्वर्ग-लोक)। हम लोग सविता (सूर्य या ब्रह्म) देव के तेज का ध्यान करते हैं। वह हमारी धी (बुद्धि) को विकसित करे।] आचार्य ब्रह्मचारी के हृदय-देश पर अंगुलियों को ऊपर की ओर करके हाथ रखते थे और कहते थे, 'मैं तुम्हारा हृदय अपने व्रत के परिपालन में लगाता हूँ, तुम्हारा चित्त मेरे चित्त के अनुकूल बने, एक व्रत होकर मेरी बातों को सुनो, बृहस्पति तुमको मेरे लिए नियुक्त करें।' अन्त में आचार्य ब्रह्मचारी की कटि में मेखला बाँधकर और दंड देकर ब्रह्मचर्य व्रत का आदेश

देता था, 'तुम ब्रह्मचारी हो; जल पीओ, काम करो, सोओ मत; आचार्य के अधीन होकर वेद का अध्ययन करो।'

केशान्त

केशान्त या गोदान संस्कार १६ वें वर्ष में सम्पन्न किया जाता था। इस संस्कार की विधि प्रायः चौड-संस्कार की भाँति ही है, अन्तर केवल इतना ही है कि इसमें केश के अतिरिक्त दाढ़ी और काँख के बाल भी बना दिये जाते थे और नख काट दिया जाता था।

समावर्त्तन

ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए आचार्य के आश्रम में यथेष्ट विद्या प्राप्त कर लेने पर ब्रह्मचारी आचार्य की आज्ञा लेकर अपने माता-पिता के समीप लौट आता था। आने के पहले आचार्य के द्वारा उस ब्रह्मचारी की जो विदाई होती थी उसे समावर्तन संस्कार कहते थे। इस संस्कार में ब्रह्मचारी का विधिपूर्वक स्नान महत्त्वपूर्ण है। इसी स्नान की प्रधानता के कारण इस संस्कार को 'स्नान' भी कहते हैं।

समावर्तन के दिन ब्रह्मचारी उत्तर पूर्व दिशा से किसी यज्ञिय वृक्ष की समिधा लाता था। इसके पश्चात् केशान्त सस्कार की विधियाँ सम्पन्न होती थीं और शीतोष्ण जल से स्नान करके वह नागरिक वेश-भूषा धारण करता था। वह हवन करते समय अग्नि में अपनी समिधा डाल कर स्मृति, विद्या, श्रद्धा, प्रज्ञा, यज्ञ, दान, अध्ययन, पुण्य कर्म, सत्य, ज्ञान और व्रतों को अपनाता था। वह सर्वव्रत होने की कामना करता था जिसके द्वारा चराचर विश्व के सभी प्राणियों और देवताओं के प्रति अपने कर्तव्य का पालन कर सके।

समावर्तन के अवसर पर आचार्य शिष्य को भावी कर्तव्य-पथ का निर्देश करते हुए कहता था 'सच बोलो' धर्म का आचरण करो, स्वाध्याय न छोड़ो, आचाय के लिये प्रियधन दो, तुम्हारी सन्तति का कहीं विच्छेद न हो जाय, सत्य और धर्म से मत डिगना, स्वास्थ्य का ध्यान रखना, सांसारिक अभ्युदय के प्रति उदास न होना, पढ़ने-पढ़ाने से प्रमाद न करना, देवताओं और पितरों के प्रति कर्तव्य का पालन करो। माता-पिता, अतिथि और आचार्य के प्रति देव-भाव रखना, सत्कर्मों को अपनाना, बुरे कामों को नहीं, सुचरित को ही अपनाना, बुरे कामों को नहीं। हमसे भी अच्छे ब्राह्मण हैं, उनको आसन देकर सम्मान करना। जो कुछ देना, वह श्रद्धापूर्वक, आनन्दपूर्वक, विनय से, भय से तथा प्रेमपूर्वक देना। कर्तव्य के विषय में सन्देह होने पर सद्ब्राह्मणों के आदर्श पर चलना। समावर्तन के पश्चात् विवाह होने के समय तक ब्रह्मचारी स्नातक कहा जाता था।

विवाह

आचार्य के आश्रम से लौटने पर स्नातक गृहस्थाश्रम में प्रवेश पाने का अधिकारी समझा जाता था। वर के चुनाव के सम्बन्ध में कन्या का पिता पूरी छान बीन कर लेता था। वैदिक काल में प्रायः कन्यायें विदुषी होती थीं और ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करती थीं। उनके विवाह ब्रह्मचर्यव्रत के पालन करने वाले स्नातकों से ही करने की विधि थी। कन्यायें भी अपने पति का चुनाव कुछ परिस्थितियों में कर सकती थीं। प्रायः वे ही वर चुने जाते थे, जो अपने व्यक्तित्व का पूरा विकास कर लेते थे, और जो बुद्धिमान्, यशस्वी, विद्वान्, गुणवान्, स्वस्थ, युवा, सुन्दर, कुलीन और सच्चरित्र होते थे। मनु ने

नियम बनाया कि संस्कार-विहीन, पुरुष रहित, शरीर पर बढ़े हुये रोम वाले और रोगी परिवारों में विवाह नहीं करना चाहिये। महाभारत में समान धन और विद्वत्ता वाले कुलों में ही विवाह सम्बन्ध को समुचित माना गया है।

वर के समान कन्या के गुणों की भी छान-बीन होती थी। अच्छे वर के जो गुण कहे गये हैं प्रायः उन्हीं का कन्या में भी होना आवश्यक माना जाता था। विवाह के लिये सुन्दर रूप वाली, मंजुभाषिणी और सच्चरित्र कन्यायें उत्तम समझी जाती थीं।

प्रारंभ में विवाह के समय वर और कन्या की आयु के सम्बन्ध में कोई निश्चित नियम नहीं बने थे, पर इतना तो निश्चित है कि अल्पायु में विवाह नहीं होते थे। स्नातक तो लगभग २५ वर्ष के हो ही जाते थे। कन्याओं की अवस्था वर की अवस्था से अवश्य ही कम रहती थी। प्रायः युवावस्था में उनके विवाह होते थे। धर्मशास्त्रकारों ने विवाह के लिये कन्याओं की अवस्था क्रमशः कम निर्धारित की है। वैदिक काल में १५ वर्ष, मनु के अनुसार लगभग १२ वर्ष और आगे चल कर तो लगभग ८ वर्ष की कन्या ही विवाह के योग्य मान ली गई।

विवाह-संस्कार बहुत प्राचीन काल से ही संसार के प्रायः सभी देशों में बहुत धूमधाम से सम्पन्न किया जा रहा है। भारत में इस धूमधाम के साथ संस्कार की विधियाँ भी जुटी रहती हैं। इसकी विधियों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण वर के द्वारा कन्या का पाणि (हाथ) ग्रहण करना है। पाणि-ग्रहण की महत्ता के कारण इस संस्कार का नाम ही पाणि-ग्रहण संस्कार पड़ गया। वर कन्या का पाणि ग्रहण करते समय

गृहस्थाश्रम के भावी जीवन में सदा ही उस कन्या के साथ प्रेम और आनन्द पूर्वक रहने का व्रत लेता था। वह समझता था कि मुझे देवताओं ने यह कन्या दी है और उस कन्या को दिव्य विभूति मान कर जीवन भर उसकी प्रतिष्ठा करता था। इस संस्कार के अन्त में सप्तपदी होती थी। कन्या वर के पीछे पीछे सात पद पर चलती थी और उनका सम्बन्ध अमर हो जाता था। प्रत्येक पद का अभिप्राय अलग-अलग होता था। सातों पद दम्पति के जीवन में क्रमशः अन्न, बल, धन सुख, सन्तति, ऋतु और मैत्री की प्रतिष्ठा करने वाले माने जाते थे। पति कामना करता था कि उसकी पत्नी के अनेक दीर्घायु पुत्र हों।

आश्रम

प्राचीन भारत के लोगों का अनुमान था कि मानव-जीवन लगभग सौ वर्ष का होता है। सौ वर्ष के इस जीवन को व्यक्तित्व के विकास की दृष्टि से चार बराबर भागों में विभक्त किया गया था—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास। श्रम के द्वारा ही व्यक्तित्व का पूर्ण विकास सम्भव हो सकता है, इसीलिये जीवन के उपर्युक्त चार विचारों का नाम आश्रम (आ+श्रम) पड़ा है।

ब्रह्मचर्याश्रम

उपनयन संस्कार का वर्णन करते समय हम लिख चुके हैं कि इस संस्कार के पश्चात् बालक आचार्य के समीप रह कर विद्याध्ययन करने लगता था। उस समय के आचार्य प्रायः नगर से दूर किसी वन में नदी के तट पर आश्रम बना कर रहते थे। आचार्यों के आश्रम में सहस्रों विद्यार्थी विभिन्न देशों से आकर कुटुम्बियों की भाँति रहते थे। महाभारत काल में

नैमिष वन में महर्षि शौनक का आश्रम था, कण्व का आश्रम मालिनी नदी के तट पर फैले हुए वन में था, कुरुक्षेत्र के निकटवर्ती एक आश्रम में स्त्रियों की उच्च शिक्षा का प्रबन्ध किया गया था, तक्षशिला के विद्यालय में आचार्य धौम्य के शिष्य उपमन्यु, आरुणि और वेद ने शिक्षा पाई थी। रामायण में महर्षि भरद्वाज के आश्रम का उल्लेख है। इस आश्रम में सहस्रों विद्यार्थी शिक्षा पाते थे। ऐसे ही आश्रमों के संचालक वसिष्ठ, विश्वामित्र और व्यास भी थे। बौद्ध साहित्य में तक्षशिला, काशी सारनाथ आदि उच्चकोटि के विद्यालयों का वर्णन मिलता है। गौतम बुद्ध ने विहारों में शिक्षा देने की पद्धति चलाई। इन विहारों में बौद्ध भिक्षु आजीवन रहते थे और अध्ययन-अध्यापन तथा चिन्तन एवं समाधि में अपना समय बिताते थे। नालन्दा के विश्वविद्यालय में लगभग १०,००० विद्यार्थियों के अध्ययन का प्रबन्ध था। ह्वेनसाँग ने इसी विद्यालय में शिक्षा पाई थी और अन्त में इसका उपाध्यक्ष बनाया गया। उसने इसका वर्णन करते हुए लिखा है, 'इस विद्यालय का मानमन्दिर प्रातःकाल के कुहरे में अदृश्य हो जाता है। इसके ऊपर के कमरे मानों बादलों में छिपे रहते हैं। पर्वतों के समान ऊँचे विद्यालयों के शिखर पर ललित कलाओं की शिक्षा दी जाती है। इनकी खिड़कियों से लोग वायु और बादलों के परिवर्तन का अनुमान कर लेते हैं। यहाँ से सूर्य और चन्द्र भी दिखाई पड़ते हैं।' नालन्दा के समान ही बौद्ध विहार वलभी और विक्रमशिला में भी थे। ह्वेनसाँग ने लिखा है कि सारे भारत में उस समय लगभग ५,००० बौद्ध विहार ऊँची शिक्षा के केन्द्र थे

धीरे-धीरे विहारों का स्थान विद्यापीठों ने ले लिया। विद्यापीठ आध्यात्मिक शिक्षा के केन्द्र थे। धार्मिक आचार्यों ने इनकी

स्थापना की थी। शैवों और वैष्णवों ने धार्मिक शिक्षा देने के लिये मठों की स्थापना की। दक्षिण भारत में मन्दिरों में शिक्षा का प्रबन्ध किया गया था। कोडियमठ, हिरण्यमठ, पंचमठ और तिपुरान्तक के विद्यालयों में शिक्षा का द्वार सब के लिए खुला था। शङ्कराचार्य ने कई मठों में विद्यालय खोलकर सार्वजनिक शिक्षा का प्रबन्ध किया। ऐसे मठ कांची, शृंगेरी, द्वारका, बद्री और जगन्नाथपुरी में खुले थे।

अध्ययन के विषय

वैदिक काल में उपनयन के पश्चात् विद्यार्थियों को शारीरिक और मानसिक शुद्धि के लिये नित्य कर्म की शिक्षा दी जाती थी। विद्यार्थी पहले स्नान, आचमन, सन्ध्योपासन और होम करने की विधि सीखता था। इसके पश्चात् वह वैदिक साहित्य की शिक्षा प्राप्त करता था। प्रारम्भिक अवस्था में वह शुद्ध उच्चारण के लिये मात्रा (ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत), स्वर (उदात्त, अनुदात्त और स्वरित) तथा ध्वनियों के स्थान और प्रयत्न का परिचय प्राप्त करता था। उपनिषद् काल में ब्रह्मज्ञान की शिक्षा को अधिक महत्त्व दिया गया, पर ब्रह्मज्ञान के पहले ही चारों वेद, पुराण, इतिहास, व्याकरण, गणित, तर्क आदि की शिक्षा प्राप्त कर लेनी पड़ती थी। बौद्ध विद्यालयों में प्रधान रूप से बौद्ध साहित्य की शिक्षा दी जाती थी, पर वैदिक साहित्य की वहाँ भी उपेक्षा नहीं की जाती थी और लौकिक उपयोगिता के विषय, शिल्प और विज्ञान आदि भी पढ़ाये जाते थे।

प्राचीन काल में माता-पिता को बालकों की शिक्षा के लिए प्रायः कुछ भी व्यय नहीं करना पड़ता था। आचार्य ही स्वयं उनके माता-पिता का स्थान ले लेता था और शिष्यों को पुत्र के

समान रखकर उनका भरण-पोषण करता था। वैदिक काल में शिष्यों को गुरु की सेवा करनी पड़ती थी और कभी-कभी तो उसे गुरु की गायें चराने के लिये वन में जाना पड़ता था। बौद्ध काल में भी गुरु की सेवा का विधान मिलता है, पर गायों के चराने की पद्धति लुप्तप्राय सी हो गई। भिक्षा माँग कर अपना और आचार्य का भरण-पोषण करने की रीति वैदिक काल में विशेष रूप से थी। शनैः शनैः इस रीति का भी अन्त हो गया। आगे चलकर राजा, धनी लोग या गाँव के लोग अन्न-वस्त्र देकर उन विद्यार्थियों का भरण-पोषण करते थे। इस प्रकार तत्कालीन शिक्षा का व्यय सारे समाज पर पड़ता था, न कि किसी एक व्यक्ति पर जिसका पुत्र विद्यार्थी हो।

जीवन की झलक

विद्यार्थी का जीवन अत्यन्त सरल और तपोमय था। उसे जीवन की पवित्रता का व्रत लेना पड़ता था। वह मन, कर्म और वचन से शुद्ध होता था। गोपथ-ब्राह्मण के अनुसार ब्रह्मचारी अपने ब्रह्मतेज, ख्याति, निद्रा, क्रोध, आत्म-प्रशंसा, सौन्दर्य और सुगन्धि का परित्याग कर देता था।

ब्रह्मचारी गुरु के सोने के पीछे सोता था और जागने के पहले ही उठ जाता था और प्रातःकाल ही ठंढे पानी से स्नान करता था। इसके पश्चात् वह दाहिने और बायें हाथ से क्रमशः गुरु के दाहिने और बायें चरण का स्पर्श करता था। गुरु के लिये वह प्रतिदिन समिधा, जल, पुष्प, गोबर, मिट्टी और कुश लाता था और हवन-स्थान को झाड़-पोंछ करके अग्नि प्रज्वलित कर देता था।

ब्रह्मचारी को किसी वस्तु के छूने, खाने, देखने, सूँघने, और सुनने से हर्ष और विषाद नहीं होता था। वह अपने शरीर को फूल, माला, गन्ध आदि से सजाता नहीं था और न स्त्रियों के समीप जाता था। कभी भी ब्रह्मचारी स्वादिष्ट भोजन के चक्कर में नहीं पड़ता था। वह मधु और मांस का सर्वथा त्याग कर देता था।

ब्रह्मचारी शरीर पर तेल या चूर्ण तथा आँखों में काजल नहीं लगाता था और न जूते और छाते का प्रयोग करता था। वह द्यूत नृत्य, नाटक, गीत और वाद्य से सदा अलग रहता था। वह ज्ञान और सदाचार के अतिरिक्त किसी वस्तु का संग्रह नहीं करता था। उसकी एक मात्र सम्पत्ति विनय और ज्ञान पिपासा थी।

गृहस्थाश्रम

ब्रह्मचर्याश्रम के पश्चात् स्नातक विवाह करके गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते थे। प्राचीन काल से ही इस आश्रम को बहुत उत्तरदायित्वपूर्ण माना गया है। मनु ने इस आश्रम की श्रेष्ठता इन शब्दों में बतलाई है :—

यस्मात्त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम्।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही॥

(गृहस्थ प्रति दिन ज्ञान और अन्न से तीनों आश्रम के लोगों का भरण-पोषण करता है, अतः गृहस्थाश्रम सर्वश्रेष्ठ है।)

दिनचर्या

इस देश में बहुत प्राचीन काल से ही रात्रि के अन्तिम भाग, ब्राह्म मुहूर्त्त में जागने की रीति चली आ रही है। उसी

समय से दिन का आरम्भ मानना चाहिये। जगते ही आँखें धोकर दिन में अन्धकार के पाश से विमुक्त होने की प्रार्थना की जाती थी। वैदिक काल में लोग उषाकाल में देवताओं की स्तुति करते थे। पौराणिक युग में लोग प्रातःकाल विभिन्न देवताओं, महापुरुषों और नारियों की स्तुति करते थे। इसके पश्चात् शारीरिक शुद्धि की प्रक्रिया आरम्भ होती थी। दंतधावन के लिये जिस वृक्ष की टहनी तोड़ी जाती थी, उसकी प्रार्थना इन शब्दों में की जाती थी, —'हे वृक्ष ! मुझे दीर्घायु, बल, यश, तेज, सन्तति पशु धन, ब्रह्म (वेद-ज्ञान), स्मरण-शक्ति और उत्कृष्ट बुद्धि प्रदान करो।' दन्तधावन के पश्चात् स्नान होता था। गृहस्थ ब्राह्मण प्रायः सूर्योदय के पहले और दोपहर के पहले दो बार स्नान करते थे। स्नान करते समय वैदिक मन्त्रों से जल की स्तुति की जाती थी। स्नान कर लेने पर गीले वस्त्र धारण किये हुए ही तर्पण के द्वारा देवताओं और पितरों को जल अर्पित किया जाता था। यह सारा काम दिन के प्रथम भाग में समाप्त हो जाता था।

दिन के दूसरे भाग में लोग वेदों का स्वाध्याय करते थे और समिधा, पुष्प और कुश आदि पूजा के द्रव्य लाते थे। चौथे भाग में दोपहर के पहले ही स्नान और तर्पण किये जाते थे। लोगों का ऐसा विश्वास था कि सभी चराचर को जल की आवश्यकता है और विश्व के भरण पोषण की इच्छा रखने वाले मनुष्य को अवश्य ही तर्पण करना चाहिये। तर्पण में जल से देव, ऋषि, पितर, मानव और अन्यान्य चराचर वर्ग की तृप्ति की जाती थी। दिन के पंचम भाग में वैश्वदेव विधि के द्वारा सभी देवताओं को पका हुआ भोजन अग्नि के माध्यम द्वारा दिया जाता था।

गृहस्थाश्रम के महायज्ञ

प्रत्येक गृहस्थ के पाँच महायज्ञ उसके समाज के प्रति उसके कर्तव्यों के रूप में होते थे। ब्रह्म यज्ञ का संक्षिप्त रूप आजकल की सन्ध्या है। इसके लिए गृहस्थ गाँव से दूर किसी निर्जन स्थान पर जाकर गायत्री-मन्त्र का पाठ करता था, वेद पढ़ता था और वेदों का अध्यापन करता था। देव यज्ञ में स्तुतियों और हवन से ही देवताओं को सन्तुष्ट किया जाता था। आगे चलकर देवयज्ञ में देवताओं की मूर्तियों की पूजा का प्रचलन हुआ और हवन करने की क्रिया लुप्त हो गई। पितृ-यज्ञ में माता-पिता और पूर्वजों के तर्पण और श्राद्ध का विधान था। भूत-यज्ञ में विश्व के चराचर सभी प्राणियों के भरण-पोषण के लिये गाँव से बाहर सावधानी से भोजन की बलि रख दी जाती थी। इस यज्ञ में राक्षसों तक के लिये जीविका का ध्यान रखकर उनके लिये बलि देने की विधि रही है। अतिथि-यज्ञ के द्वारा अतिथियों को भोजन देने और रहने की सुविधा करने की परिपाटी थी। ऋग्वेद में अकेले खाने वाले व्यक्ति को पाप का भागी बताया गया है। वैदिक काल से भारतीय जीवन की यह विशेषता रही है कि प्रत्येक गृहस्थ के द्वार पर प्रतिदिन कोई न कोई अतिथि आया ही रहता था। उपनिषदों में अतिथि को देवता के समान मान कर उनका आदर और सम्मान करने की सीख दी गई है।

कुछ शास्त्रकारों ने इन महायज्ञों को संस्कारों में गिना है। इनके द्वारा मानव सङ्कीर्णता और एकान्तता की सकुचित पृष्ठ-भूमि से उठकर अपने व्यक्तित्व को व्यापक बनाता है और मनु के शब्दों में इस शरीर को 'ब्राह्मी' स्थिति प्रदान करता है।

इन महायज्ञों से मानवीय अभ्युत्थान और संस्कृति की उत्कृष्टता की प्रतीति होती है।

वानप्रस्थ

ब्रह्मचर्याश्रम और गृहस्थाश्रम में जीवन के लगभग ५० वर्ष बीत जाते थे। इस अवस्था में न तो मनुष्य को सांसारिक भोग-विलासों के प्रति बहुत आस्था रह जाती है और न उसमें गृहस्थाश्रम के उत्तरदायित्व-पूर्ण कर्तव्यों का पालन करने की शक्ति रह जाती है। ऐसी परिस्थिति में लोग आध्यात्मिक ज्ञान की खोज में प्रकृति की शरण लेते थे और हिमालय और विन्ध्याचल आदि पर्वतों पर नैसर्गिक वन्य जीवन को अपना लेते थे। वन के लिये प्रस्थान कर देना ही वानप्रस्थ है। कोई भी मनुष्य वानप्रस्थ का अधिकारी तभी माना जाता था, जब वह अपने कुटुम्ब के पुत्र और पुत्रियों के सुखपूर्वक रहने का प्रबन्ध कर लेता था। अपनी कन्या का विवाह करके जाना तो आवश्यक ही था। वह अपने पुत्र पर किसी प्रकार का ऋण छोड़ कर नहीं जा सकता था। पति के साथ पत्नी भी वानप्रस्थ आश्रम अपना सकती थी। विधवा स्त्रियाँ अकेले ही इस आश्रम के लिए वन में जा सकती थीं। महाभारत के अनुसार कृष्ण के मर जाने पर उनकी पत्नियाँ तप करने के लिए वन मे चली गईं।

वानप्रस्थ आश्रम ले लेने पर मनुष्य नगरों और गाँवों से कुछ भी सम्बन्ध नहीं रखता था। वह वनों में सदैव विचरण किया करता था। यदि स्त्री साथ होती तो वह किसी गुफा में अपनी कुटिया बना लेता था। उसके भोजन वस्त्र और पेय का सारा प्रबन्ध स्वयं प्रकृति देवी कर देती थी। वह जङ्गली चावल

(नीवार) या फल-मूल खाता था, कुश वल्कल या मृगचर्म का परिधान बना लेता था, वन की नदियों, झीलों या सोतों का जल पी लेता था तथा वन में रहने वाले मुनियों और संन्यासियों से दार्शनिक तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त करता था। रोगी हो जाने पर वह प्रकृति को ही चिकित्सा करने का अवसर देता था। मरणासन्न अवस्था में वह वायु और जल से ही जीवन निर्वाह करता था। मरण काल की शान्ति और उच्च विचारों से ही जीवन के चरम लक्ष्य मोक्ष की सिद्धि सुलभ मानी गई है।

वानप्रस्थ आश्रम के मुख्य उद्देश्य तप और तत्त्व ज्ञान हैं। इस आश्रम में मनुष्य शारीरिक सुखों की उपेक्षा करके शीत, वायु, अग्नि, धूप और वर्षा के प्रकोप को सहकर शरीर की ओर से निश्चिन्त रहते थे। शरीर-धारण मात्र के लिये ही उनके भोजन, पान और परिधान होते थे। उनके सिर पर जटायें होती थीं और मूँछ, नख और दाढ़ी बढ़ी रहती थीं। इससे यह न समझना चाहिए कि वे किसी प्रकार शारीरिक स्वच्छता से विमुख होते थे। उनके लिये वन के निर्मल झरनों के जल में दो या तीन बार स्नान करने का विधान था। वानप्रस्थ आश्रम में भी गृहस्थाश्रम के पाँच महायज्ञों का प्रतिदिन सम्पादन करना आवश्यक था। इस आश्रम की विशेषतायें योगाभ्यास, वेद, आरण्यक और उपनिषद् ग्रन्थों का अध्ययन और मनन तथा आध्यात्मिक चिन्तन हैं।

इस प्रकार तप और तत्त्वज्ञान के द्वारा वानप्रस्थ ब्रह्म में लीन हो जाने की इच्छा करता था और सन्यास ले लेता था। संन्यास आश्रम वानप्रस्थ का विकसित रूप है। दोनों आश्रमों

में जीवन की रूप-रेखा बहुत कुछ समान है। आगे चल कर वानप्रस्थ का संन्यास में ही समन्वय हो गया।

संन्यास

संन्यास के दो रूप हैं—यति-संन्यास और कर्म योग। यति-संन्यास में सभी कर्मों को छोड़ कर केवल आध्यात्मिक अभ्युदय के लिये ब्रह्म विषयक चिन्तन का विधान है और कर्म योग में लोक-संग्रह और लोक-कल्याण के लिये सदैव कर्म करते रहना आवश्यक है। संन्यास के लिये यह नियमित विधान था कि मनुष्य अपना सर्वस्व त्याग (न्यास) दे। इसी सम्यक् न्यास के कारण इस आश्रम को संन्यास कहते हैं।

संन्यासी के लिए नित्य परिभ्रमण करते रहना आवश्यक था। जहाँ कहीं भी सन्ध्या हो जाती थी, वह वृक्ष के नीचे अथवा निर्जन घर में रात बिता लेता था। केवल वर्षा-काल में ही वह एक स्थान पर रह सकता था। भ्रमण करते समय उसका अकेले रहना आवश्यक था। इस सम्बन्ध में प्राचीन काल से ही एक मनोरम उपमा चली आती है—दो संन्यासियों की जोड़ी, तीन का गाँव और तीन से अधिक का नगर बन जाता है। ऐसा धारणा थी कि जहाँ संन्यासी एक से दो हुए कि राग-द्वेष मन को विषाक्त कर देते हैं।

वानप्रस्थ का भाँति संन्यासी भी तीन बार स्नान करता था। वह केवल भोजन के लिये गाँव में जाता था। आवश्यकता पड़ने पर अधिक से अधिक एक रात वह गाँव में बिता सकता था। वह खप्पर में ही भोजन कर लेता था और वृक्ष की जड़ के समाप रात बिता लेता था। उसके भिक्षा पात्र और कमण्डलु धातु के नहीं होते थे, अपितु कद्दू के फल, काठ, मिट्टी या बेंत

के बने होते थे। वह सात घरों से थोड़ी-थोड़ी भिक्षा लेता था, पर उन घरों का चुनाव पहले से ही नहीं कर बैठता था वह केवल उच्च कोटि के ब्राह्मणों से ही भिक्षा ग्रहण करता था। विशेष परिस्थितियों में अन्य वर्ण के लोगों से भी अन्न ले सकता था। वह एक मनुष्य का अन्न अथवा मधु और मांस नहीं खाता था। संन्यासी रोगी होने पर अपने कुटुम्ब या सम्बन्ध के लोगों से अन्न ग्रहण कर सकता था। भिक्षा मिलने पर न तो वह प्रसन्नता प्रकट करता था और न भिक्षा के न मिलने पर विषाद करता था। वह किसी रूप में धन संग्रह नहीं करता था। वस्त्र के लिए चीथड़े, पानी छानने के लिये 'पवित्र' नाम का कपड़ा, खड़ाऊँ, आसन और कन्था—ये ही उसके सर्वस्व थे। वह त्रिदण्ड (तीन डण्डे) से पहचाना जाता था। संन्यासी नगा भी रह सकता था या मृगचर्म अथवा घास से शरीर को ढक सकता था। वह अपने नख तथा केश और दाढ़ी के बाल काट लेता था, स्वेच्छा से शिखा रख सकता था।

सन्यासी का समभाव और सभी प्राणियों के प्रति मैत्री-भावना उसकी विशेषतायें हैं। यदि कोई उसका अपमान करता तो बिना उत्तर दिये चुपचाप सह लेता। वह क्रोध करने वालों और निन्दकों को मधुर वाणी से उत्तर देता था। वह सदैव आध्यात्मिक चिन्तन में लगा रहता था और नित्य प्राणायाम आदि योग की क्रियाओं से मन पर अधिकार रखता था। संन्यासी प्रायः मौन रहता था, कभी-कभी वेदों का पाठ-मात्र कर लेता था।

कर्मयोग की सबसे सुन्दर व्याख्या गीता में की गई है। इस ग्रन्थ के अनुसार संन्यास के बिना कर्मयोग सम्भव नहीं है,

पर वह संन्यास कर्मों का संन्यास नहीं अपितु कर्म फल की आशा का संन्यास है। आसक्ति रहित होकर आत्महित के लिए अथवा लोक-कल्याण के लिए सदैव कर्म करते रहना ही कर्मयोग है।

कृष्ण ने गीता में कर्मयोग और कर्म-त्याग का समन्वय करते हुए बताया है :—

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः॥

(जितने काम्य कर्म हैं उनका न्यास अर्थात् छोड़ना ही संन्यास है। सभी कर्मों के फल का त्याग ही वास्तविक त्याग है।)

उपर्युक्त आश्रमों को, जीवन का परम उद्देश्य जानने वाले उच्च कोटि के कुछ विद्वान् ही अपना पाते थे। किसी भी युग में सारा भारत निरपवाद रूप से इन आश्रमों को सार्वजनिक नहीं बना सका। ब्रह्मचर्याश्रम और गृहस्थाश्रम तो किसी न किसी रूप में सदैव प्रतिष्ठित रहे हैं और आज भी हैं, पर वानप्रस्थ में जीवन की कठोरता को वे ही लोग सहने के लिये उद्यत हो सके हैं, जिन्हें वास्तव में विराग हो गया है। बौद्ध और जैन मत में गृहस्थाश्रम को विशेष महत्त्व नहीं दिया गया है। इनके अनुसार यथाशीघ्र गृह का परित्याग ही कल्याणकर है, पर जो ऐसा नहीं कर सकते उनके लिये जैन धर्म ने पवित्र जीवन की व्यवस्था कर दी है, जो बहुत कुछ वैदिक धर्म के गृहस्थाश्रम के अनुरूप ही है। इन आश्रमों को स्त्री, पुरुष और चारों वर्णों के लोग अपना सकते थे।

शिल्प

मानव संस्कृति के आदि-काल से ही शिल्प का प्रारम्भ मानना चाहिये। मानव सहृदय प्राणी है। उसकी प्रत्येक कृति में कला का चमत्कार किसी न किसी अंश में अवश्य ही मिलता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रत्येक कृति में कला का विकास धीरे-धीरे होता आया है। प्राचीन अथवा नवीन प्रस्तर युग में कला का विकास बहुत अधिक नहीं हो सका था। सबसे पहले कला की उत्कृष्ट प्रगति का आदर्श सिन्धु-सभ्यता की बची-खुची वस्तुओं में मिलता है। इसी युग से शिल्प का वास्तविक प्रारम्भ माना जा सकता है। उस समय के बने हुये जो चित्र, मूर्त्ति और गृह आदि आज भी मिलते हैं, वे तत्कालीन भारतीय शिल्प की सर्वाङ्गीण उन्नति का परिचय देते हैं। दुर्भाग्यवश पर्याप्त अन्वेषण न होने के कारण प्राचीन काल के सहस्रों वर्षों के शिल्प प्रायः भूगर्भ में पड़े हुए हैं। ज्यों ज्यों खुदाई करने से प्राचीन नगरों के ध्वंसावशेष मिलते हैं, प्राचीन काल के शिल्पों का ज्ञान भी बढ़ता जाता है। प्राचीन शिल्पों का कुछ कुछ परिचय तत्कालीन साहित्य से भी मिलता है।

चित्र

नवीन प्रस्तर युग के लोग अपनी गुफाओं को अपने बनाये हुए मृगया और नृत्य के चित्रों से सजाते थे। ऐसे चित्र उत्तर और दक्षिण भारत की कई पहाड़ी गुफाओं में प्राप्त हुए हैं। वे लोग अपने मिट्टी के बर्त्तनों को भी चित्रों से सजाते थे।

मोहेंजोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई से प्राप्त होने वाली पट्टियों पर विविध प्रकार के चित्र मिलते हैं। इन चित्रों से

स्पष्ट प्रतीत होता है कि तत्कालीन चित्रकला का अच्छा विकास हो चुका था और कलाकारों की अच्छी सफलता प्राप्त हुई थी। उस समय के बने हुये मिट्टी के बर्त्तनों पर पत्तों, तारों, देवी-देवताओं और पशु-पक्षियों के चित्र विविध रंगों में मिलते हैं।

वैदिक काल में चित्रों से यज्ञ की वेदिकायें सजाई जाती थीं। रामायण में राजाओं के चित्र-गृहों का उल्लेख मिलता है।

बौद्ध साहित्य की एक जातक कथा में स्वर्ग के वैभव, सुमेरु, समुद्र, चारों महाद्वीप, हिमालय, सूर्य, चन्द्रमा, दिक्पाल और भुवनों के चित्र का उल्लेख मिलता है। ई० पू० प्रथम शती में बनी हुई रामगढ़ पहाड़ी को जोगीमारा की गुफा के चित्र अब भी मिलते हैं। इन चित्रों में दीवाल पर घर, पशु और जल-जन्तु आदि बनाये गये हैं। अजन्ता की गुफाओं में चौथी शती से लेकर सातवीं शती तक के चित्र मिलते हैं। यहाँ की तेरह गुफाओं की दीवालों, भीतरी छतों या स्तंभों पर चित्र अब तक रह सके हैं। इन गुफाओं में प्रायः गौतम बुद्ध के पूर्व जन्मों की कथाओं के चित्र मिलते हैं; कुछ चित्रों में युद्ध, राजसभा तथा लौकिक दृश्यों को अंकित किया गया है। इनमें से एक चित्र में ईरान के बादशाह खुसरू के राजदूत का राजा पुलकेशी से मिलने का दृश्य है। यह मिलन ६२६ ई० में हुआ था।

अजन्ता की गुफाओं के चित्रों के प्रायः समकालीन ही ग्वालियर राज्य में बाघ गाँव के पास की पहाड़ी गुफायें हैं। यहाँ की चित्रकला अजन्ता से मिलती जुलती है। कला और संस्कृति की दृष्टि से इन चित्रों को उच्चकोटि में रखा गया है। बाघ में स्त्रियों के नृत्य का चित्रण मनोरम और चित्ताकर्षक है।

बम्बई प्रदेश में बादामी की गुफाओं के चित्र चालुक्य राजाओं के बनवाये हुए हैं। यहाँ के चित्रों में स्तम्भ का अवलम्बन लेकर खड़ी प्रेमिका, राजपरिवार और नृत्य इत्यादि का दृश्य मिलता है। मद्रास में तन्जोर के समीप सित्तन वासल की गुफाओं के चित्रों की शैली अजन्ता शैली के अनुरूप है। इन गुफाओं में नृत्य करती हुई स्त्रियों के चित्रों का बाहुल्य है। एक गुफा की छत पर जलाशय के दृश्य का चित्रण है। इसमें घने कमल वन के बीच में बैठे हुए हंस आदि पक्षी और जलजन्तु मनोरम प्रतीत होते हैं। इसी दृश्य में तीन मुनि दिखाये गये हैं, जिनकी रूप-रेखा से साधुता और सौम्यता की स्पष्ट झलक मिलती है। गुफा के स्तंभों पर नाचती हुई स्त्रियों के चित्र भी हैं। यहाँ पर अर्ध-नारीश्वर, गन्धर्वों तथा अप्सराओं के अनेक चित्र बने हुए हैं।

अजन्ता से ५० मील दूर एलोरा की गुफाओं में विविध प्रकार के चित्र हैं। ये चित्र अजन्ता शैली के अनुरूप ही हैं पर एलोरा के कलाकारों को उतनी सफलता नहीं मिली है जितनी अजन्ता के कलाकारों को। एलोरा का चित्रण ८वीं शती का है।

आठवीं शती के पश्चात् लगभग सोलहवीं शती तक के आदर्श चित्रों की प्राप्ति अभी नहीं हो पाई है। इस युग के जो चित्र मिले हैं, वे ताड़-पत्र पर चित्रित हैं और सम्भवतः १२ वीं शती में बंगाल में बनाये गये। इसी युग के कुछ चित्र एलोरा में भी १२ वीं शती में बनाये हुए मिलते हैं। ऐसी परिस्थिति में भारतीय चित्रकला की प्रगति का परिचय पाने के लिए हमें भारत के पड़ोसी देश पूर्वी तुर्किस्तान और तिब्बत की ओर देखना पड़ता है। पूर्वी तुर्किस्तान में खोतान शतियों तक भारतीय राजाओं के राज्य में सम्मिलित रह चुका है। खोतान का इस युग का

आठवीं शती का चित्रण अजन्ता के चित्रण के आदर्श पर है। मगध का तत्कालीन चित्रकला बौद्ध धर्म के साथ साथ चीन जा पहुँचा। चित्रण की मगध शैली का परिचय अब भी तिब्बत के तत्कालीन कौशेय ध्वजों से लगता है।

भारतीय चित्र कला में शारीरिक सौष्ठव का परिचय प्रायः कम मिलता है। इस देश के कलाकार अपनी कला के द्वारा उस रूप को प्रस्तुत करते हैं जिसको वे प्रत्यक्ष देखते तो नहीं, पर जिसकी अनुभूति मात्र करते हैं। उनकी कला का उद्भव स्थान हृदय है। भारतीय कला भावात्मक होती है, रूप-प्रधान नहीं। योरपीय कला रूप-प्रधान होती है।

मूर्ति-कला

संस्कृति के विकास के आदि काल से ही मूर्ति कला का प्रारम्भ देखा जाता है। प्रस्तर युग के कलाकारों की कुछ मूर्तियाँ अभी तक मिलती हैं, जो हाथी-दांत पर बनी हुई हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उस समय भी मिट्टी, पत्थर, लकड़ी आदि विभिन्न उपादानों की भी असंख्य मूर्तियाँ बनाई गई होंगी। अभी तक हाथी के दाँत पर उत्कीर्ण हाथी की एक आकृति और हाथी-दाँत का गढ़ा हुआ एक घोड़ा ही उस युग की मूर्त्ति-कला के स्मारक हैं।

सिन्धु-सभ्यता के युग की बनी हुई मिट्टी, पत्थर, तथा धातु की असख्य मूर्त्तियाँ मिलती हैं। इनके देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि केवल उच्चकोटि के कलाकार ही मूर्तियाँ नहीं बनाते थे अपितु बालक और साधारण लोग भी मूर्तियों का निर्माण करते थे। बालकों के बनाये हुए खिलौने—छोटी-छोटी मिट्टी की गाड़ियाँ, बैल-गाड़ी, चिड़ियाँ, सिर हिलाता हुआ बैल, और

हाथी आदि मिलते हैं। इनमें बहुत से खिलौने कला की दृष्टि से सुन्दर हैं और सम्भवतः वे उच्चकोटि के तत्कालीन कलाकारों की रचनायें हैं।

देवताओं की मूर्तियों में मातृदेवी की मूर्तियाँ प्रायः मिलती हैं। पत्थर की एक मूर्ति जो समाधि-अवस्था में दिखाई गई है, सम्भवतः शिव की है। धातु की मूर्तियों में एक नर्तकी की मूर्ति कला की दृष्टि से अत्यन्त सफल मानी जाती है। इस मूर्ति में नृत्य के भावों और अंगों की गतिविधि का विन्यास रमणीय है।

अभी तक पूर्ण रूप से नहीं ज्ञात हो सका है कि सिन्धु-सभ्यता के युग के पीछे आने वाली सभ्यताओं में शिल्पों की उन्नति किस प्रकार हुई अथवा सिन्धु-सभ्यता के शिल्पों का किस स्थान पर कहाँ तक विकास होता रहा। संभव है निकट भविष्य में कोई तत्कालीन नगर भूगर्भ से खोद निकाला जाय और शिल्प सम्बन्धी प्रगति का परिचय मिले। सिन्धु-सभ्यता के पीछे आने वाली वैदिक सभ्यता के नगरों के ध्वंसावशेषों का अब तक कुछ भी परिचय नहीं मिल सका है। ऐसी परिस्थिति में एक मात्र साहित्यिक उल्लेखों का ही सहारा लेना पड़ता है।

वैदिक काल की मूर्तियों के जो उल्लेख मिलते हैं वे इस प्रकार हैं:—ऋग्वेद में इन्द्र के बेचने का प्रसंग है। अथर्ववेद में पुरुषों को वश में करने के लिये स्त्रियों को उपाय बताया गया है कि उनकी मिट्टी की मूर्ति बनाकर उस पर काँटों के बाण से प्रहार किया जाय। ऐतरेय ब्राह्मण में हाथी की मूर्त्ति का उल्लेख है और शिल्प की परिभाषा बताई गई है—यद्वै प्रतिरूपं

तच्छिल्पम्' (जो प्रतिरूप है वही शिल्प है।) तैत्तिरीय ब्राह्मण में भारती, ईडा और सरस्वती की स्वर्णमयी, मनोहारिणी और महती रूप में पूजा करने का विधान है। इन उल्लेखों से प्रकट होता है कि वैदिक युग में मूर्त्ति-कला अवश्य थी और मिट्टी और धातु आदि की मूर्त्तियाँ बनाई जाती थीं। मूर्त्ति-कला के विकास का परिचय सूत्र-साहित्य, महाभारत, रामायण आदि ग्रन्थों से भी लगता है।

सिन्धु-सभ्यता के पीछे की मूर्त्तियाँ मौर्य काल से फिर मिलने लगती हैं। अशोक के बनवाये हुए स्तम्भों के सिरों पर सिंह, हाथी, बैल या घोड़ों की मूर्त्तियाँ स्थापित की गई हैं, जिनमें से कई अब भी मिलती हैं। सारनाथ के स्तम्भ की चोटी पर चारों दिशाओं में मुँह किए हुए चार सिंह मिलते हैं। सिंहों की मूर्त्तियों से अद्भुत तेज टपकता है। वे सजीव प्रतीत होते हैं। सिंह तत्कालीन भारत की अलौकिक वीरता के प्रतीक हैं।

मौर्य काल के पश्चात् गुप्त काल के पहले मूर्ति-कला का विकास उत्तर भारत में भारहुत (नागोद राज्य, मध्यभारत), बोध गया, साँची (भोपाल राज्य), मथुरा, गन्धार में, दक्षिण भारत में अमरावती, नागार्जुनिकोण्ड (कृष्णा नदी के मुहाने पर) आदि केन्द्रों में हुआ। ई० पू० दूसरी शती में भारहुत में जो स्तूप बना था उसका केवल एक तोरण और परिभित्ति का कुछ भाग अब अवशेष रह गये हैं। ये भी अब कलकत्ता के संग्रहालय में पहुँचा दिये गये हैं। इन परिभित्तियों पर जातक की कथायें, गौतम बुद्ध की चरितावली तथा कुछ परिहास के दृश्य उत्कीर्ण किये गये हैं। उन दृश्यों के नीचे संक्षेप में उनका वर्णन भी मिलता है। इन दृश्यों से तत्कालीन भारतीय जीवन की जो जीता-जागती झलक मिलती है, उससे यह स्पष्ट प्रतीत

होता है कि उस समय लोगों के जीवन में उत्साह था सरलता थी।

साँची में तीन बड़े स्तूप हैं। सबसे बड़ा स्तूप, जो अशोक का बनवाया हुआ है, अभी तक भली भाँति सुरक्षित है। इस स्तूप का प्राकृतिक दृश्य अत्यन्त मनोरम है। स्तूप पहाड़ी पर बना हुआ है, पास ही एक छोटी पहाड़ी नदी कलकल ध्वनि करती हुई बहती है, चारों ओर छोटी-छोटी पहाड़ियाँ और बन दिखाई पड़ते हैं। इसी प्राकृतिक दृश्य के बीच कोसों दूर से ही अशोक का स्तूप तोरणों के रूप में अपनी भुजाओं को उठाये हुये शान्ति चाहने वाले पथिकों को अपनी ओर बुलाता है। इस स्तूप में चारों दिशाओं में चार ऊँचे तोरण हैं और इसके चारों ओर परिभित्ति बनी हुई है। साँची के तोरणों और परिभित्तियों पर भी प्रायः वे ही दृश्य बनाये गये हैं, जो भारहुत में पाये जाते हैं, पर कला की दृष्टि से साँचो भारहुत से आगे बढ़ा-चढ़ा है। साँची के कलाकारों ने कहानियों के प्रदर्शन में अद्भुत सौन्दर्य, श्री, चारुता और लावण्य का संयोजन किया है। पत्थर के टुकड़े मानो प्रत्यक्ष रूप से अपनी-अपनी बात कह रहे हों। सारा वातावरण उदात्त प्रतीत होता है।

ऊपर जिस बौद्ध मूर्त्ति-कला का वर्णन किया गया है, उसमें मूर्तियाँ पत्थर में उत्कीर्ण हैं, पर वे स्वतन्त्र रूप से काट कर अलग नहीं की गई हैं। इन मूर्तियों में गौतम बुद्ध की मूर्ति नहीं मिलती। उनके व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति मात्र कराने की चेष्टा कलाकारों ने सांकेतिक चिन्हों से की है। गौतम बुद्ध के पद-चिह्न, चक्र अथवा आसन मात्र से परिचित्रण के आधार पर उनकी अभिव्यक्ति हो जाती है। मथुरा की शैली इससे भिन्न

है। यहाँ की मूर्तिकला की सबसे बड़ी विशेषता है गौतम बुद्ध का मूर्त्तरूप प्रस्तुत करना। ये मूर्तियाँ लाल चितकबरे पत्थरों से बनाई गई हैं। यहाँ की शैली पूर्णरूप से भारतीय मानी जाती है। गन्धार केन्द्र की मूर्ति कला का क्षेत्र अफगानिस्तान और उत्तर-पश्चिमी प्रदेश रहे हैं। गन्धार की कला बहुत कुछ यूनान की कला से प्रभावित हुई है। इसमें रूप की प्रधानता है, शरीर की बनावट का सौन्दर्य है, मूँछें दिखाई गई हैं और वस्त्रों की सजावट और चुनन को कुशलतापूर्वक दिखाया गया है। जैसा कि हम पहले लिख चुके हैं, भारतीय शिल्प भाव-प्रधान है जिसमें हृदय से गृहीत आदर्श भाव-रूप की अभिव्यक्ति की जाती है नेत्रों से गृहीत रूप की नहीं। गन्धार की इस कला का उपयोग प्रायः भारतीय विषयों और वस्तुओं का निदर्शन कराने के लिये हुआ है।

अमरावती के स्तूप और परिभित्ति दोनों मर्मर पत्थर की पट्टियों से बने हुए हैं। इसकी परिभित्तियों के कुछ भाग लंदन और कुछ मद्रास के संग्रहालय में रखे हुए हैं। स्तूप टूटी-फूटी अवस्था में है। अमरावती-कला में भाव-भंगिमा का प्रदर्शन मनोहर है। यहाँ वृक्ष, पौधों, पुरुषों और विशेषतः कमल का तक्षण बहुत सफल हुआ है। बुद्ध की मूर्ति कहीं-कहीं मिलती अवश्य है, पर प्रायः संकेतों के द्वारा ही बुद्ध के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति की गई है। इस युग की मथुरा और पटना की जैन मूर्तियाँ उच्चकोटि की हैं।

नागार्जुनिकोण्ड में एक स्तूप, दो चैत्य और एक विहार के ध्वंसावशेष पाये गये हैं। यहाँ पर एक पत्थर की पट्टी पर गौतम बुद्ध के जन्म का दृश्य दिखाया गया है जिसमें देवताओं के द्वारा पकड़े हुए एक वस्त्र पर गौतम बुद्ध सात पद चले थे।

गुप्त-युग (३२०—६०० ई०) में सभी कलाओं की दृष्टि से

भारत की इतनी उन्नति हुई कि वह आगे चल कर केवल भारत में ही नहीं बल्कि बृहत्तर भारत में भी आदर्श मानी गई। इस युग में बौद्ध, जैन और ब्राह्मण धर्म के शिल्पों की समान रूप से प्रगति हुई। गौतम बुद्ध की तत्कालीन मूर्त्ति, जो सारनाथ में पाई गई है, सारे भारत में सर्वोत्तम गिनी जाती है। इस मूर्त्ति में बुद्ध धर्म-चक्र-प्रवर्त्तन करते हुए दिखाये गये हैं। मनकुवर (इलाहाबाद के समीप) में मिली हुई मूर्त्ति में बुद्ध पद्मासन लगाकर अभय मुद्रा में बैठे हैं। मथुरा की मूर्त्ति में बुद्ध ध्यानमग्न होकर खड़े हैं। इसी युग की ढाली हुई बुद्ध की एक ताम्र मूर्त्ति को ह्वेनसांग ने नालन्दा में देखा था। यह मूर्त्ति ८० फुट ऊँची थी। सुलतानगंज (भागलपुर) में बुद्ध की एक काँसे की मूर्ति ७½ फुट ऊँची है।

गुप्त युग की वैष्णव सम्प्रदाय की मूर्त्तियाँ—उदयगिरि (भिलसा), काशी, ललितपुर (झाँसी), पहाड़पुर (राजशाही, बंगाल), भरतपुर आदि में मिली हैं। उदयगिरि में विष्णु के अवतार वराह के द्वारा पृथिवी के उद्धार का दृश्य दिखाया गया है। वराह ने साहस और उत्साहपूर्वक पृथिवी को अपनी दाढ़ों पर उठा रखा है। काशी में गोवर्धनधारी कृष्ण की मूर्त्ति है। झाँसी जिले में देवगढ़ के मन्दिर की भित्ति पर शिव, विष्णु आदि ब्राह्मण धर्म के देवताओं की मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। इन मूर्त्तियों में मधुरमा, चारुता और तेजस्विता का अद्भुत सम्मिश्रण है। सर्वत्र उच्च आध्यात्मिकता का वातावरण समुद्भासित होता है। पहाड़पुर में कृष्ण-लीला सम्बन्धी मूर्त्तियाँ हैं। भरतपुर राज्य में बलदेव की २७ फुट ऊँची मूर्त्ति है। शैव सम्प्रदाय की तत्कालीन सुन्दर मूर्त्तियों का संग्रह सारनाथ में मिलता है।

गुप्त-काल के पश्चात् ६०० ई० तक मूर्त्ति-कला के तीन प्रधान केन्द्र थे—मामल्लपुर, एलोरा तथा एलिफेण्टा। मामल्लपुर में पल्लव राजाओं के बनवाये हुए मन्दिर मिलते हैं। कुछ मन्दिरों में तत्कालीन राजाओं की मूर्त्तियाँ मिलती हैं। अन्य मन्दिरों में ब्राह्मण धर्म के देवताओं के चरित दिखाये गये हैं। इन दृश्यों में शेषशायी विष्णु पर आक्रमण करते हुए मधुकैटभ, दुर्गा का महिषासुर से युद्ध तथा भगीरथ की तपस्या प्रमुख हैं। ये मन्दिर सातवीं शती के पूर्वार्ध में बने थे।

एलोरा में एक पहाड़ी ही मन्दिर रूप में परिवर्तित कर दी गई है। यहाँ कैलास मन्दिर में ४२ पौराणिक दृश्य मूर्तरूप में दिखाए गये हैं। कैलास के लंकेश्वर विभाग में शिव का ताण्डव-नृत्य दिखाया गया है। एक मूर्ति में शिव सात लोकों को नाप रहे हैं। सब से अधिक मनोहर दृश्य रावण के कैलास पर्वत उठाने का है, जिसमें शिव समाधिस्थ होकर बैठे हैं और पार्वती डरती हुई शिव की भुजा पकड़ रही है। मन्दिर में बड़े-बड़े हाथी, बैल, सिंह, घड़ियाल, हरिण, हंस आदि चट्टान काट कर बनाये गये हैं। इसको राष्ट्रकूटवंश के राजा कृष्ण ने ८ वीं शती के उत्तरार्ध में बनवाया था।

एलिफेण्टा के गुफा-मन्दिरों में शिव की महातेजस्वी मूर्तियाँ मिलती हैं। इनमें से त्रिमूर्ति, ताण्डवनृत्य तथा शिव-पार्वती-परिणय की मूर्तियाँ सबसे अधिक मनोरम और कला की दृष्टि से सफल हैं। ये मूर्तियाँ ८ वीं शती में बनी थीं।

इसी समय के बने हुए बृहत्तर भारत के मन्दिरों में बौद्ध साहित्य की अनेक कथाओं और बुद्ध-चरित की अनेक गाथाओं

के समान चमकते थे, देहलियाँ तोते के समान नील मरकत-मणियों से बनी हुई थीं और उन मणियों की नीली प्रभा सारे आँगन में पसरती थी। प्रत्येक भवन में अनेक कमरे थे, सारे कमरे सचित्र थे और वितान (चँदोए) लगे हुए थे। भवनों के तोरण मणि-जटित होने के कारण इन्द्र-धनुष के समान दिखाई पड़ते थे। मनोरंजन करने के लिए वेदियाँ बनी हुई थीं। उन्हीं वेदियों के समीप दीवालों में लम्बी-लम्बी लकड़ियाँ लगी हुई थीं। कहीं-कहीं पिंजरे लटक रहे थे। नगर के मार्ग सीधे कीचड़ से रहित तथा विस्तृत थे। सारा नगर चूने से पुता हुआ चमक रहा था।

लगभग छठीं शती में रचे हुए वास्तु-शिल्प के ग्रन्थ, 'मानसार' में आदर्श नगर का परिचय इस प्रकार है, 'गाँव के चारों ओर लकड़ी या पत्थर की दीवाल होनी चाहिये। उस दीवार में चारों दिशाओं में चार प्रमुख द्वार होने चाहिये। इन द्वारों को चौड़ी सड़कों से मिलाना चाहिये। गाँव के पास जलाशय होना चाहिये। गाँव में ढाल की ओर नालियाँ होनी चाहिये। नगर की रचना भी गाँव के समान ही होनी चाहिये। नगर में बाज़ार, दूकान, मन्दिर, पथिक-गृह, पाठशाला आदि सुविधा के अनुसार स्थित होने चाहिये। इस ग्रन्थ में नव प्रकार के नाट्यगृह और मंचों का भी वर्णन किया गया है।'

अब तक यह दिखाया गया है कि मनुष्य संस्कृति के आदि काल से ही किस प्रकार अपने रहने के लिये घर बनाता था वास्तु-कला का यहीं अन्त नहीं हो जाता। वास्तु-कला का सबसे अधिक विकास मानव की उन धार्मिक भावनाओं को लेकर हुआ है, जिससे वह अपने पूज्य पूर्वजों और देवताओं के लिये

स्तूप, चैत्य, विहार तथा मन्दिर आदि बनाकर उनकी अमर प्रतिष्ठा करता है।

स्तूप

स्तूप निर्वाण (मुक्ति) तथा सम्यक् ज्ञान के प्रतीक हैं। बौद्ध धर्म के निर्वाण पाये हुये महात्माओं के स्मारक-स्वरूप ये स्तूप दर्शकों को बुद्ध के मार्ग पर चलने के लिये उत्साहित करते हैं। इस प्रकार स्तूपों को देखने मात्र से निर्वाण की कामना करने वाले लोगों को शान्ति मिलती है और उनका हृदय आनन्द से भर जाता है। साधारणतया स्तूप गौतम बुद्ध के वास्तविक या बनावटी अवशेषों को रख कर बनाये गये अथवा उनके जीवन से सम्बन्ध रखने वाले स्थानों पर खड़े कर दिये गये। सबसे पहला स्तूप नेपाल की सीमा पर बस्ती जिले में पिपरावा में मिलता है। यह ४५० ई० पू० में बनाया गया था। कहते हैं, महाराज अशोक ने ८४००० स्तूप बनवाये थे। स्तूप कई प्रकार के होते थे। कई स्तूप तो केवल हाथ ही भर ऊँचे थे और कई ६० हाथ ऊँचे भी बनाये गये थे। पहले स्तूपों के आस-पास तोरण, वेदिका तथा मूर्तियाँ बनाने की विधि नहीं थीं। अशोक ने साँची में जो स्तूप बनवाया उसमें लगभग २०० वर्ष बीतने पर तोरण और वेदिका आदि की रचना की गई थी। इस स्तूप का व्यास १२० फुट और ऊँचाई ५४ फुट हैं। इसमें चारों दिशाओं में चार द्वार हैं। द्वारों से होती हुई परिधि के आकार में पत्थर की पट्टियों की वेदिका बनी हुई है। वेदिका के भीतर प्रदक्षिणा-पथ है। प्रदक्षिणा-पथ के दूसरे किनारे से स्तूप की नींव प्रारम्भ होती है। कुछ ऊँचाई पर एक और प्रदक्षिणा-पथ है जिसे मेधि कहते हैं। मेधि पर जाने के लिये नीचे के प्रदक्षिणा-पथ से

सीढ़ियाँ बनी हुई हैं। प्रदक्षिणा-पथ से स्तूप का अंड उलटे हुये कटोरे की भाँति होता है। अंड के शिखर पर चौकोर हर्मिका होती है जो पत्थर के डंडों से घिरी रहती है। तोरण और वेदिका पर बनी हुई पशु-पक्षी, देवी-देवता, यक्ष-गन्धर्व और और मानवों की मूर्तियाँ प्रदर्शित करती हैं कि वे सभी बुद्ध की पूजा करते हैं।

दूसरी शती ई० पू० शुङ्गों के शासन-काल में भारहुत में एक स्तूप बना। इसकी रूप-रेखा बहुत कुछ साँची के स्तूप के समान ही रही होगी, पर इसकी वेदिकाओं के अवशेषों को देखने से ज्ञात होता है कि इसमें कला का सौन्दर्य साँची के समान नहीं है।

अशोक के पश्चात् बौद्ध धर्म के प्रसिद्ध अनुयायी राजा कनिष्क ने तत्कालीन उत्तर-पश्चिमी भारत में अनेक स्तूप बनवाये। उसका बनवाया हुआ पेशावर का स्तूप १३ तले का था और ४०० फुट ऊँचा था। यह तत्कालीन भारत का सर्वोच्च स्तूप था।

कृष्णा नदी की घाटी में अमरावती में १०३ ई० शती में जो स्तूप बना उसकी वेदिका सातवाहन राजाओं ने तीसरी शती के पूर्वार्ध में बनवाई। इस स्तूप की वेदिका मर्मर पत्थर की बनी है, इसका अंड भी मर्मर पत्थर से ढंका है। इस स्तूप की मूर्ति-कला की विशेषताओं के आधार पर अमरावती शिल्प का एक अलग केन्द्र माना गया है। गुप्त-काल में भी स्तूप का निर्माण होता रहा। तत्कालीन स्तूप तक्षशिला, सिन्ध, सारनाथ तथा राजगृह में मिले हैं।

चैत्य

बौद्ध वास्तु में स्तूप के अतिरिक्त चैत्य और विहार कला की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। ये दोनों सर्वप्रथम गुफाओं के रूप में मिलते हैं, जो पर्वतों को काट कर बना दी गई हैं। ऐसी सैकड़ों गुफायें भारत में मिलती हैं। कुछ गुफायें जो, भिक्षुओं के रहने के काम में आती थीं, विहार कहलाती थीं। जो गुफायें भिक्षुओं की पूजा के लिये बनवाई जाती थीं उनको चैत्य कहते थे। चैत्य का भीतरी भाग आयताकार होता है। इसके तीन भाग होते हैं। मध्य भाग सबसे अधिक चौड़ा होता है। इसके दोनों ओर स्तम्भ बने होते हैं। उन स्तम्भों की पंक्ति की दूसरी ओर जो किनारियाँ शेष रह जाती हैं, वे वेदिकायें हैं और उन्हीं से होकर मध्य भाग के छोर पर बने हुए स्तूप की परिक्रमा की जाती है। चैत्य के सामने की दीवाल विविध प्रकार की मूर्तियों से सुसज्जित होती है। इसके तीन छोटे द्वार क्रमशः भीतर के तीन भागों के सम्मुख रहते हैं। मध्यवर्ती द्वार के ऊपर पीपल की पत्ती के समान एक झरोखा होता है जिससे स्तूप पर प्रकाश पड़ता है।

इस प्रकार के बहुत से चैत्य नासिक, भाजा (पूना के निकट) बेडसा (पूना), पीतलाखोरा (खानदेश), कोंडाणा (कोलाबा) तथा कार्ली (बम्बई और पूना के बीच में) पाये जाते हैं। कार्ली का चैत्य सर्वश्रेष्ठ है। यह पहली शती ई० पू० में बनाया गया था। इस गुफा की लंबाई १२४ फुट ३ इंच और चौड़ाई ४५ फुट ६ इंच तथा ऊँचाई ४५ फुट है। मध्य भाग के दोनों ओर १५ स्तम्भ हैं। प्रत्येक स्तम्भ में आठ कोने हैं और इनकी चोटी पर तक्षण-शिल्प का मनोरम प्रदर्शन किया गया है। चोटी के पिछले

भाग पर दो हाथी घुटने टेके हुये हैं। हाथियों के ऊपर दो सवार हैं।

विहार

चैत्यों के निकट भाजा, बेडसा, कार्ली और अजन्ता आदि स्थानों में विहार भी मिलते हैं। विहार वर्षा ऋतु में बौद्ध भिक्षुओं के रहने के लिये थे, इसी से इन्हें संघाराम भी कहते हैं। अजन्ता में ६ वीं, १० वीं, १२ वीं तथा २६ वीं गुफायें चैत्य हैं, शेष सभी विहार हैं। भाजा में सबसे अधिक प्राचीन विहार, जो गुफा के रूप में बना था, मिला है। यह ईसवी पूर्व में बना होगा। इस विहार में सामने की ओर एक ओसारा है। ओसारे की भीतरी छत अर्धगोलाकार है। ओसारे के पश्चिमी सिरे पर तीन कोठरियाँ हैं, जो चौकोर तथा गोल स्तम्भों के द्वारा ओसारे से अलग की गई हैं। स्तंभों का सिरा कमल के फूल के आकार का बनाया गया है और सबसे ऊपर किन्नरी की मूर्ति गढ़ी गई है। ओसारे के पीछे एक बड़ा कमरा है, जिसे सभा-मण्डप कहते हैं।

उड़ीसा प्रदेश में सैकड़ों जैन और बौद्ध विहार मिलते हैं। इन विहारों में खण्डगिरि की अनन्त गुम्फा और उदयगिरि की रानीगुम्फा, गणेशगुम्फा और जय-विजय नामक जैन विहार प्रमुख हैं। उदयगिरि की हाथी गुम्फा में जैन राजा खारवेल का दूसरी शती ई० पू० का शिलालेख मिलता है। उदयगिरि की मणिकापुरी गुफा दो तली है। पहले तल पर सामने ओसारा और भीतर की ओर कमरे हैं। ऊपरी तल नीचे के समान ही है, पर इसके कमरे छोटे हैं। इसी के समान रानीगुम्फा और गणेश गुम्फा भी दो तली हैं।

नहपान का विहार पहली शती ई० पू० का बना है। ऐसा ही एक विहार नासिक में भी मिलता है, जो दूसरी शती ई० पू० का है। इन विहारों का सभामण्डप वर्गाकार है। अजन्ता के विहार भी नासिक के विहार से मिलते-जुलते हैं।

अजन्ता के १६ वें और १७ वें गुफा-विहार सर्वोत्कृष्ट हैं। इनका निर्माण संभवतः ५ वीं शती में हुआ होगा। इन विहारों में मनोरम स्तम्भ बने हुए हैं। पीछे की दीवाल के मन्दिर में गौतम बुद्ध की प्रतिमा है। इन विहारों में जो चित्र-कला का प्रदर्शन है, वह विषय और शैली की दृष्टि से अद्वितीय ही है। अजन्ता के विहार सातवीं शती तक बनते रहे। अजन्ता के निकट औरंगाबाद में भी कुछ विहार बने हुए हैं।

पर्वतों को काट कर गुफाओं का निर्माण करने में आश्चर्यजनक प्रतिभा, कला, विज्ञान और धीरता का प्रत्यक्ष प्रमाण मिलता है। प्रारम्भिक गुफाओं को छोड़ कर प्रायः अन्य सभी गुफाओं में बाहरी किसी उपादान की योजना नहीं की गई है। पत्थर की विशाल शिलायें इस प्रकार काटी गई हैं कि उनमें अपने आप द्वार, कक्ष, स्तम्भ, सभामण्डप, देवता, मानव, पशु-पक्षी आदि की मूर्तियाँ, उनके अलंकरण आदि बन गये हैं। गुफाओं के ऊपर बरसने वाला पानी भी दूर बहा देने के लिये नालियाँ बनी हुई हैं। इन गुफाओं में प्रकाश आने के लिये अच्छा प्रबन्ध किया गया है।

ऊपर जिन विहारों का वर्णन किया गया है, वे पर्वतों को काट कर गुफाओं के रूप में बने थे। इनके अतिरिक्त भी विहार बने जिनके निर्माण के लिये ईंटों की जुड़ाई हुई है। इस प्रकार के विहार भारत के कोने-कोने में बने थे। ह्वेनसांग ने लिखा है कि सारे भारत में लगभग ५,००० विहार थे और इनमें

लगभग दो लाख से अधिक भिक्षु शिक्षा पाते थे। इन विहारों को तत्कालीन राजाओं और सेठों ने बनवाया था। उपर्युक्त विहारों में नालन्दा का विहार सर्वोत्कृष्ट था। इस विहार का वर्णन चीनी यात्री ह्वेनसांग ने अपनी यात्रा के विवरणों में किया है। खुदाई करने पर उसके कुछ ध्वंसावशेष भी मिले हैं।

नालन्दा का विहार चौथी शती से लेकर ८वीं शती तक नित्य परिवर्धनशील रहा। बारहवीं शती तक इस विहार का अस्तित्व रहा। यह विहार १६०० फुट लम्बा और ८०० फुट चौड़ा था। इसके चारों ओर ऊँची दीवाल बनी थी और केवल एक ही द्वार भीतर आने के लिये था। द्वार से कुछ दूरी पर आठ बड़े भवन थे। इस विहार की प्रमुख विशेषता इसकी प्रत्येक वस्तु की ऊँचाई है। फाह्यान ने लिखा है कि इसके शिखर २०० फुट ऊँचे हैं और ह्वेनसांग ने ८० फुट ऊँची बुद्ध की मूर्ति का उल्लेख किया है। इस विहार के लिये एक नवतला पुस्तकालय था जिसका नाम रत्नसागर था। भिक्षुओं के भवन पाँच तले थे। ज्यों-ज्यों भिक्षु अधिक विद्वान् होते जाते थे, त्यों ही त्यों उनको क्रमशः ऊँचे तल रहने के लिये दिये जाते थे। सबसे ऊपर सर्व-विद्या-विशारद रहते थे।

प्रसिद्ध विद्वान् कनिंघम ने नालन्दा के ध्वंसावशेषों को देख कर मत प्रकट किया है कि यहाँ की तक्षण-कला भारत में सर्वोत्तम है। यहाँ के एक विहार की दीवाल की लम्बाई २०३ फुट और मोटाई ६½ फुट है। दीवालें बहुत अच्छी ईंटों की बनी हुई हैं। इनका रंग कुछ-कुछ पीलापन लिये हुए है। कहीं-कहीं तो सूक्ष्म अवलोकन करने पर भी जुड़ाई की रेखा दिखाई नहीं पड़ती है। आजकल भी ईंटों से ऐसा उत्तम काम नहीं बनाया

जा सका है। चारों ओर की दीवालों से जो आयत इस प्रकार बनता था, इससे लगी हुई कोठरियों की पंक्तियाँ होती थीं, जिनकी लम्बाई ६ फुट ६ इंच, १० फुट ११ इंच, और १२ फुट थी। इनमें से कुछ एक विद्यार्थी के लिये और शेष दो विद्यार्थियों के लिये बनी थीं। कोठरियों के भीतर पत्थर की एक या दो चौकियाँ सोने के लिये बनाई गई थीं। प्रत्येक कोठरी में एक दीपालय और एक पुस्तक-स्थान बनाये गये थे। खुदाई में बड़े-बड़े पाकालय भी मिले हैं। यह विहार जिस भूमि पर बना है, वहीं पर पाँच विहार क्रमशः बने। ऊपर का विवरण छठें विहार का है, जो सबसे अन्त में बना।

मन्दिर-वास्तु

मन्दिरों का बनना कम से कम ई० पू० चौथी शती से प्रारम्भ हुआ था। रामायण में शिखर वाले भवनों के उल्लेख मिलते हैं। शिखर ही मन्दिरों की प्रमुख विशेषता है। लगभग चौथी शती ई० पू० में बने हुए एक मन्दिर का अवशेष चित्तौड़ के समीप मिला है। यह मन्दिर सङ्कर्षण और वासुदेव का था। पहली शती ई० पू० की मुद्राओं पर भी मन्दिर के समान भवनों की प्रतिकृति मिलती है। कुषाण वंशी राजा हुविष्क की एक मुद्रा पर भी मन्दिर की प्रतिकृति मिलती है। उत्तर प्रदेश में बरेली के समीप रामनगर में एक शिव का मन्दिर मिला है, जिसका निर्माण-काल ई० पू० पहली शती से लेकर पहली शती ई० तक हो सकता है। दूसरी शती में भारशिव-वंश के शैव राजाओं ने मन्दिरों की नागर शैली चलाई थी। इसी समय से मन्दिरों के द्वार पर नदी-देवताओं की मूर्तियाँ बनने लगी थीं।

सबसे पहला मन्दिर, जो प्रायः अभी तक पूरा-पूरा पाया जाता

है, साँची का गुप्तकालीन विष्णु का मन्दिर है। यह लगभग ४०० ई० में बना था। इसकी बनावट बहुत कुछ गुफा विहारों से मिलती-जुलती है। सामने के मंडप में चार स्तम्भ हैं और इनके सिरों पर पीठ मिला कर बैठे हुये सिंहों की मूर्तियाँ हैं। गुप्तकाल में बने हुए तिगवा में (जबलपुर जिला) विष्णु का मन्दिर, भूमरा (नागोद राज्य) में शिव का मन्दिर, नचना कूथर (अजयगढ़ राज्य) में पार्वती का मन्दिर, देवगढ़ (झाँसी जिला) में दशावतार विष्णु का मन्दिर, खोह (नागोद राज्य) में शिव का मन्दिर, दहपर्बतिया (आसाम का दारंग जिला) में शिव के मन्दिर मिलते हैं। इसी युग का बना हुआ कानपुर जिले में भीतरगाँव का ईंटे का विशाल मन्दिर मिलता है। इस मन्दिर में शिखर भी मिलता है, जो आगे चल कर मन्दिर-वास्तु की विशेषता हुई।

गुप्त शैली के मन्दिरों की छत सपाट होती है, भीतर और बाहर मूर्तियों का तक्षण बहुत कम होता है। द्वार पर भाँति-भाँति की मूर्तियाँ मिलती हैं। गर्भ-गृह के सामने स्तम्भों का सहारा लिये हुये छोटा सा मंडप होता है। स्तम्भों का मूल भाग अलंकरण रहित और वर्गाकार होता है। देवगढ़ के दशावतार मन्दिर में उपर्युक्त सभी विशेषतायें स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती हैं। यह मन्दिर गुप्त-युग की स्वर्णिम कला का आदर्श माना गया है।

गुप्त-युग के पश्चात् भारतीय वास्तु-कला की उत्कृष्टता प्रमाणित करने वाले अनेक मन्दिर मिलते हैं। इसी समय मन्दिर शैली की विभिन्न शाखाओं का विकास भी हुआ। मुख्य रूप से दो शैलियों के मन्दिर हैं—प्रथम उत्तर भारत के सिरे

पर नुकीले और शेष खोपा जैसे उपरिभाग वाले तथा द्वितीय क्रमशः पतले होते हुये कई तले भवन जैसे शिखर वाले। दोनों के शिखर भाँति-भाँति की मूर्तियों से अलंकृत होते हैं।

उत्तर भारत के प्रसिद्ध प्राचीन मन्दिर उड़ीसा में भुवनेश्वर में और मध्य भारत के छतरपुर राज्य में खजुराहो में पाये जाते हैं। इनके अतिरिक्त काश्मीर और राजस्थान में इनसे कुछ भिन्न शैली के मन्दिर मिलते हैं। काश्मीर का मार्तण्ड मन्दिर और राजस्थान में आबू पर्वत पर दिलावरा के दो मन्दिर उपर्युक्त शैलियों के आदर्श हैं। इन पर शिखर नहीं हैं, अपितु अंड हैं, जो शिखरों की भाँति मूर्तियों से अलंकृत हैं।

दक्षिण में द्राविड़ शैली के मन्दिरों का आरंभ पल्लव राजाओं के शासन-काल से होता है। इस शैली के प्रसिद्ध मन्दिर कांची में मिलते हैं। मामल्लपुर की गुफायें भी इसी आदर्श पर बनी हैं। पल्लव या द्राविड़ शैली के शिखर जावा, कम्बोडिया और अन्नम में मिलते हैं। पल्लवों के पश्चात् राज्य करने वाले चोलों ने द्राविड़ शैली को विकसित किया। चोल शैली का सर्वोत्तम मन्दिर राजराज ने तंजोर में बनवाया। इस मन्दिर का शिखर १६० फुट ऊँचा है। इसके ऊपर का विशाल अंड एक ही पत्थर का बना हुआ है। कहा जाता है कि इस पत्थर के अंड को उतनी ऊँचाई तक पहुँचाने के लिए चार मील लम्बी सड़क बनवाई गई। इस विशाल मन्दिर के अलंकरण के लिये ऊपर से नीचे तक असंख्य प्रकार की मूर्तियों का तक्षण हुआ है। चोल कला की विशेषता है उसकी अद्भुत विशालता और उसमें सूक्ष्म और सौन्दर्यशालिनी अलंकृतियों का अभिनिवेश। चोल शैली का विकास हुआ और मन्दिरों के चारों ओर की दीवाल में

गोपुरम् नामक महाद्वारों का महत्त्व बढ़ने लगा। धीरे-धीरे मन्दिर से अधिक गोपुरम् के अलंकरण और उच्चता पर ध्यान दिया जाने लगा। गोपुरम् के अतिरिक्त आगे चल कर स्तम्भों के सहारे मंडप बनने लगे। इस प्रकार अनेक विशाल मन्दिर मदुरा, श्रीरङ्गम् और रामेश्वरम् में आज मिलते हैं जिनके मंडपों में सहस्र स्तम्भ लगे हैं, एक के पश्चात् दूसरे प्रकार के बने हुए हैं, बड़े-बड़े आँगन हैं और स्तम्भों की बहुत लंबी पंक्तियाँ दिखाई देती हैं।

द्राविड़ शैली सुदूर दक्षिण की थी। उसके अनुसार दक्षिणी भारत में चालुक्यों और राष्ट्रकूटों ने अनेक मन्दिरों का निर्माण कराया। इस प्रदेश में उत्तर भारत की शैली के साथ ही साथ द्राविड़ शैली भी चलती थी। एलौरा का कैलाश मन्दिर द्राविड़ शैली पर ही बना है। यह अद्वितीय मन्दिर सारे विश्व में अपनी अद्भुत कला और सौन्दर्य के लिये विख्यात है। इसको कृष्ण प्रथम ने आठवीं शती के उत्तर भाग में बनवाया था। यह गुफा-मन्दिर है, जो एक समूचे पर्वत को काट कर बनाया गया था।

मैसूर के १२ वीं और १३ वीं शती के होयसल राजाओं ने मन्दिरों की एक नई शैली चलाई। इस शैली के अनुसार बने हुए मन्दिर वर्गाकार नहीं होते हैं अपितु तारा के आकार के होते हैं। इन मन्दिरों का तल ऊँचा होता है। इनके शिखर द्राविड़ शैली के होते हैं, पर उतने ऊँचे नहीं होते। इस शैली का सर्वोत्तम मन्दिर दोरसमुद्र में बना हुआ है। कलाकारों ने जो परिश्रम इस मन्दिर के बनाने में किया है, वह कल्पनातीत है।

विज्ञान

भारत प्राचीन काल में विज्ञान के क्षेत्र में संसार के सभी देशों का नेता था। विश्व के आधुनिक विज्ञान की प्रगति का

मूलाधार प्रायः भारतीय महर्षियों की खोजें हैं। विज्ञान की विभिन्न शाखाओं की नींव सिन्धु-सभ्यता के युग में आज से लगभग ५००० वर्ष पहले पड़ चुकी थी। वैदिक काल में विज्ञान की उच्च प्रगति के प्रमाण मिलते हैं। तभी से भारतीय विज्ञान का क्रमबद्ध इतिहास भी मिलता है।

रेखागणित

सिन्धु-सभ्यता की वास्तु-कला को देखने से ज्ञात होता है कि उस समय लोगों को रेखागणित का अच्छा ज्ञान रहा होगा। वैदिक यज्ञों के लिये जो वेदियाँ और कुण्ड बनाये जाते थे उनकी रचना का आधार भी रेखागणित रहा है। वेदियों की रूप-रेखा देखने से ज्ञात होता है कि उस समय लोग रेखागणित की विविध आकृतियाँ भली-भाँति बनाते थे। तत्कालीन साहित्य में रेखागणित के प्रमा, प्रतिमा, निदान, परिधि, छन्द आदि पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग मिलता है।

वैदिक साहित्य के पश्चात् रेखागणित सम्बन्धी बौधायन, आपस्तम्ब, और कात्यायन के शुल्व सूत्र मिलते हैं। इनमें त्रिभुज, आयत और वर्ग सम्बन्धी गणित मिलते हैं और साथ ही भुजा से कर्ण का सम्बन्ध, आयत के समान वर्ग बनाना, वर्ग के समान वृत्त बनाना आदि विषयों पर खोज हुई है। रेखागणित का बहुत अधिक सम्बन्ध ज्योतिष-विज्ञान से है। आगे चल कर विज्ञान की इन दोनों शाखाओं का एक साथ विकास होने लगा।

ज्योतिष

वैदिक यज्ञों के लिये उपयुक्त समय निर्धारण करने के लिये ज्योतिष-विज्ञान का विकास आरम्भ हुआ। तत्कालीन ऋषि

आकाश-मण्डल के ग्रह, नक्षत्र आदि की गतिविधि को प्रतिदिन देखते थे और उनके अनुसार काल के परिवर्तन तथा परिवर्धन को समझने की चेष्टा करते हुए चिरकाल तक वंश-परम्परा से प्राप्त किये हुए अनुभव के आधार पर इस परिणाम पर पहुँचे थे कि वर्ष होता है, वर्ष में बारह चान्द्र मास होते हैं, वर्ष चन्द्रमा के बारह मासों में ही पूरा नहीं पड़ता है, प्रति तीसरे वर्ष एक अधिक मास जोड़ कर वर्ष पूरा होना चाहिए। वर्ष में मधु, माधव, शुक्र, शुचि, नभ, नभस्य छः ऋतुएँ होती हैं।

वैदिक काल में ही ज्योतिष वेदांग नामक एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना हुई। इसमें युग, वर्ष, मास, अधिक मास, उत्तरायण, दक्षिणायन, दिन और रात्रि का मान और नक्षत्रों की चाल आदि को गणित की सहायता से समझाया गया है। ज्योतिष वेदांग की रचना के पश्चात् पाँचवीं शती तक, जो ग्रन्थ ज्योतिष विज्ञान के सम्बन्ध में लिखे गये, वे अभी तक अप्राप्य हैं। पाँचवीं शती में आर्यभट का लिखा हुआ आर्यभटीय नामक ग्रन्थ मिलता है। इस पुस्तक में ग्रहों की गतिविधि का वैज्ञानिक और सविस्तर वर्णन मिलता है। उस समय तक निश्चित हो चुका था कि वर्ष में ३६५ दिन, ७ घंटे, ५५ मिनट और १२ सेकंड होते हैं। आर्यभट के समकालीन वराहमिहिर ने पंच सिद्धान्तिका बृहत्संहिता और बृहज्जातक नाम के तीन ग्रन्थों को रचा। वराहमिहिर का सूर्य सिद्धान्त ज्योतिष विज्ञान का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। सातवीं शती के विद्वान् ब्रह्मगुप्त ने पूर्ववर्ती विद्वानों के मतों का संशोधन किया। इनकी दो पुस्तकें ब्राह्म स्फुट-सिद्धान्त और खंड-खाद्यक मिलती हैं। ६७८ ई० में चतुर्वेद पृथूदक स्वामी ने ब्राह्म-स्फुट-सिद्धान्त की टीका लिखी।

ग्यारहवीं शती में भी इसी प्रकार श्रीपति का सिद्धान्त शेखर तथा भोजदेव का राजमृगांक आदि ग्रन्थ लिखे गये। बारहवीं शती में ज्योतिष के महान् आचार्य भास्कर का उदय हुआ। उनके लिखे हुए सिद्धान्त-शिरोमणि, करण-कुतूहल, करण-केसरी, ग्रह-गणित, ग्रह-लाघव, ज्ञान-भास्कर, सूर्य-सिद्धान्त-व्याख्या और भास्करदीक्षितीय ग्रन्थ मिलते हैं।

भास्कराचार्य ने पृथिवी की गोलाई और आकर्षण-शक्ति का वैज्ञानिक विवेचन करते हुये सिद्धान्त शिरोमणि में लिखा है :—

समो यतः स्यात्परिधेः शतांशः पृथिवी च पृथिवी नितरां तनीयान्।
नरस्य तत्पृष्ठगतस्य कृत्स्ना समेव तस्य प्रतिभात्यतः सा।
आकृष्टशक्तिश्च मही तया यत् स्वस्थं गुरु स्वाभिमुखं स्वशक्त्या।
आकृष्यते तत् पततीव भाति समे समन्तात् क पतत्वियं खे।

(गोले की परिधि का सौवाँ भाग एक सीधी रेखा प्रतीत होता है। हमारी पृथिवी भी एक बड़ा गोला है। मनुष्य को उसकी परिधि का एक बहुत ही छोटा भाग दीखता है, इसीलिए वह चपटी दीखती है। पृथिवी अपनी आकर्षण शक्ति के जोर से सब वस्तुओं को अपनी ओर खींचती है। इसीलिये सभी पदार्थ उस पर गिरते हुए दिखाई देते हैं।)

पृथिवी के आकर्षण का यही सिद्धान्त न्यूटन के सैकड़ों वर्ष पहले ही ज्ञात हो चुका था।

अङ्कगणित और बीजगणित

गणित के क्षेत्र में भारत की सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण देन जो सारे विश्व में विज्ञान की प्रगति में अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुई है, शून्य और दशमलव का आविष्कार है। भारत से ही सारे संसार ने इनको सीखा है। गणित शास्त्र के विद्वान् काजोरी

ने अपने ग्रन्थ 'गणित के इतिहास' में लिखा है, 'यह ध्यान देने की बात है कि भारतीय गणित ने हमारे वर्त्तमान विज्ञान में किस सीमा तक लाभ पहुँचाया है। वर्त्तमान बीजगणित और अंकगणित दोनों की विधि और भाव भारतीय हैं, यूनानी नहीं। गणित के उन सम्पूर्ण और शुद्ध चिह्नों पर, भारतीय गणित की उन क्रियाओं पर, जो आज प्रचलित क्रियाओं की तरह संपूर्ण हैं और उनके बीज गणित की विधियों पर विचार तो करो और फिर सोचो कि गंगा के तीर पर रहने वाले ब्राह्मण किस श्रेय के भागी नहीं हैं? दुर्भाग्य से भारत के कई अमूल्य आविष्कार योरप में बहुत पीछे पहुँचे, जिनका प्रभाव, यदि वे दो तीन शती पहले पहुँचते, तो बहुत पड़ता।'' डिमार्गन ने भारतीय गणित की प्रशंसा करते हुए लिखा है, 'हिन्दू गणित यूनानी गणित से बहुत उच्च कोटि का है। भारतीय गणित वह है, जिसे हम आज प्रयुक्त करते हैं।'

भारतीय गणित का विकास वैदिक काल से ही हुआ है। वैदिक काल में संख्याओं का उल्लेख इस क्रम में मिलता है— एक, दश, शत, सहस्र, अयुत, नियुत, प्रयुत, अर्बुद, न्यर्बुद, समुद्र, मध्यम, अन्त और परार्ध। यह गणना शतोत्तर कहलाती है। इन संख्याओं के आधार पर इतना तो निश्चय ही कहा जा सकता है कि इनकी कल्पना करने वाले महामानव गणित के क्षेत्र में बहुत आगे बढ़े हुये होंगे। गणित विषयक जो पुस्तकें मिलती हैं उनका उल्लेख 'ज्योतिष प्रकरण' में हो चुका है। उन्हीं पुस्तकों में शुद्ध गणित के अध्याय भी मिलते हैं। इन पुस्तकों में भिन्न की कल्पना, उसका गुणन, और भाग, ऐकिक नियम, वर्गमूल, घनमूल, ऋण का चिह्न, ज्यातालिका, π का मूल्य (३·१४१६), बीजगणित में अक्षर के उपयोग और समीकरण

आदि की विधि का परिचय मिलता है। आर्यभट की पुस्तक में गणित पाद के ३० श्लोकों में बीजगणित और रेखागणित के नियम बताये गये हैं। इसमें विभिन्न आकार की वस्तुओं के क्षेत्रफल और घनफल, व्यास और परिधि का सम्बन्ध आदि निकालने की रीति बताई गई है और व्याज तथा त्रैराशिक के सिद्धान्त तथा समीकरण का उपयोग बताया गया है।

मूसा और याकूब ने भारतीय बीजगणित का प्रचार अरब में किया। वहाँ से यह योरप पहुँचा।

आयुर्वेद

आयुर्वेद का विज्ञान संस्कृति के आदिकाल से ही आरम्भ होता है। मानव ने जब से यह देखना आरम्भ किया कि कौन सी वस्तु भोज्य है अथवा कौन सी अभोज्य है, तभी से आयुर्वेद की जड़ पड़ी। समय की गति के अनुसार इस विज्ञान का क्षेत्र भी विस्तृत होता गया। सिन्धु सभ्यता के युग में लोग पशुओं के सींगों का चूर्ण रोगों के निदान में काम में लाते थे। वे ताबीज का उपयोग भी करते थे। वैदिक काल में जड़ी-बूटियों से औषध बनाये जाते थे और मन्त्रों के द्वारा भी रोगों को दूर करने का विधान प्रचलित था। उस समय के आयुर्वेद के आचार्यों ने मानव शरीर का वैज्ञानिक अध्ययन किया था। उनको हड्डियों, नसों, हृदय, फेफड़े आदि के स्थान, कार्य और गतिविधि का पूरा ज्ञान था। वे विषों की चिकित्सा करना जानते थे।

बौद्ध काल में आयुर्वेद-विज्ञान की बहुत उन्नति हुई। उस समय रोगियों के लिये विशेष प्रकार का भोजन—घी, मक्खन, तेल, मधु आदि का प्रबन्ध किया जाता था। विभिन्न प्रकार की जड़ें, पत्तियाँ, फल, वृक्षों के रस और गोंद, नमक आदि का

औषध बनाने में प्रयोग होता था। चूने का प्रयोग फोड़े-फुंसी को दूर करने के लिये किया जाता था। गाय का सूखा गोबर, विशेष प्रकार की मिट्टी और रंग आदि भी चर्म रोगों से बचने के लिये काम में लाये जाते थे। आँख के रोगों में विभिन्न प्रकार के अंजन लगाये जाते थे। सिर की पीड़ा दूर करने के लिये सुगन्धि द्रव्यों की सुंघनी बनाई जाती थी। गठिया का निदान वाष्प-स्नान और ओषधियों से होता था। पेट की गड़बड़ी होने पर विभिन्न प्रकार के तेल औषध के रूप में ग्रहण किये जाते थे। साँप के काटने पर गोबर, गोमूत्र, भस्म और विशेष प्रकार की मिट्टी से चिकित्सा की जाती थी। कई प्रकार के रस और मांस का भी औषध रूप में उपयोग किया जाता था। स्वास्थ्यप्रद भोजनों में दूध-भात का सर्वोच्च स्थान था। इससे जीवन शक्ति, बल, कान्ति, आनन्द, मानसिक उल्लास, बुद्धि की प्रखरता आदि को बढ़ाया जाता था तथा भूख, प्यास, और अन्य पाचन संबंधी रोग दूर किये जाते थे।

उपर्युक्त वर्णन से ज्ञात होता है कि उस समय विविध प्रकार के रोगों का निदान होता था और इसके लिए बहुविध वस्तुओं का औषध रूप में प्रयोग होता था।

बौद्ध साहित्य में जीवक नामक वैद्य के अद्भुत शल्य (चीर-फाड़) के उल्लेख मिलते हैं। सिर की पीड़ा का निदान करने के लिए उसने राजगृह के सेठ के सिर को चीर कर उसमें से दो कीड़ों को निकाल बाहर किया और फिर घाव को सीकर लेप लगा दिया। रोगी चंगा हो गया। जीवक ने बनारस के सेठ के लड़के के पेट को चीर दिया और अँतड़ियों को यथास्थान सुधार कर उसे सी दिया। रोगी की अँतड़ियाँ मल्ल क्रीड़ा करते समय उलझ गई थीं। भारत के कोने-कोने में जीवक का यश प्रख्यात

था। उसने साकेत, बनारस, वैशाली और उज्जयिनी में जाकर रोगियों का उपचार किया।

प्राचीन भारत के अन्य प्रसिद्ध चिकित्सक चरक और सुश्रुत हो चुके हैं। इन्होंने चिकित्सा की दृष्टि से रोगों को क्रमशः आठ और छः भागों में बाँटा है। इनके ग्रन्थ चरक-संहिता और सुश्रुत-संहिता अब भी प्रामाणिक माने जाते हैं।

आयुर्वेद विज्ञान की प्राप्ति के लिए शास्त्र और कर्म दोनों ही आवश्यक माने जाते थे। शास्त्र (पुस्तक) में पढ़ा हुआ ज्ञान कर्म (अभ्यास) से अधिक स्पष्ट कराया जाता था। केवल शास्त्र या कर्म द्वारा ज्ञान प्राप्त करके वैद्य यम का भाई ही कहा जाता था। लोगों की धारणा थी कि औषध अल्पज्ञों के हाथ में विष बन जाता है। वैद्य को शास्त्रों का अध्ययन करके छेद (चीर-फाड़) और स्नेह (लेपन) में कुशल होना पड़ता था। वैद्यों का कर्तव्य था कि वे ओषधियों को उचित रीति से शुद्ध स्थान पर उगावें या उत्पन्न करें, ठीक समय इकट्ठा करें, ठीक तोल करके उनका मिश्रण करें और उचित समय पर उनको बनावें। औषध को यथासाध्य स्वादिष्ट और सुगन्धित बनाने का आदेश संहिता ग्रन्थों में दिया गया है ताकि रोगी को उससे अरुचि न हो।

शल्य कर्म के लिये शस्त्र लोहे, सोने, चाँदी, ताँबे आदि धातुओं के बनाये जाते थे। इनकी स्वच्छता और काम करने की योग्यता की ओर विशेष ध्यान रखा जाता था। शस्त्रों को रखने के लिए कोश बनाये जाते थे। शल्य-शस्त्र आठ प्रकार के होते थे—छेद्य, भेद्य, वेध्य (शरीर के किसी अंग से पानी निकालने के लिये), एष्य (नाड़ी आदि में घाव ढूँढ़ने के लिए), आहर्य (दाँत आदि के निकालने के लिए), विस्राव्य (रक्त

निकालने के लिये), सीव्य (सीने के लिए) और लेख्य (घाव कुचलने के लिए)। सुश्रुत ने ऐसे शस्त्रों की संख्या १०१ बताई है। आठवीं शती के आयुर्वेदाचार्य वाग्भट ने कहा है, 'ऐसे शस्त्रों की संख्या क्या निर्धारित की जाय? आवश्यकतानुसार प्रतिदिन तो नये-नये बनते रहते हैं।' सीने के लिये मनुष्य के सिर के बाल या घोड़े की पूँछ के बालों का प्रयोग होता था। मूर्छित लोगों को आजकल के इंजेक्शन की भाँति रक्त में औषध मिलाने के लिए चर्म की परत को खुरचा जाता था। खुरचने वाले शस्त्र का नाम त्रिकूर्चक था। उस समय कृत्रिम दाँत और नाक भी लगा देना सम्भव था।

यह तो मनुष्यों के रोगों की चिकित्सा का विवरण है। प्राचीन काल में पशु-पक्षियों तथा वृक्षों के रोगों की चिकित्सा भी वैज्ञानिक ढंग से होती थी। पशु-चिकित्सा-विज्ञान पर अनेक ग्रन्थ भी मिलते हैं। अशोक ने सारे भारत और भारत के बाहर भी—मनुष्यों और पशुओं के लिये दो प्रकार की चिकित्सा का प्रबन्ध किया। बृहत्संहिता नामक ग्रन्थ में वृक्षों के रोगों का निदान करने की विधि और ओषधियों के प्रयोग का विवरण मिलता है।

अन्य विज्ञान

ऊपर जिन विज्ञानों का विवेचन किया गया है उनका पूरा-पूरा विकास हुआ था। इनके अतिरिक्त प्राचीन काल में लोगों का विज्ञान विविध क्षेत्रों में विकसित हुआ था, पर स्वतन्त्र रूप से नहीं, अपितु अन्य शास्त्रों, दर्शनों या विज्ञानों के अंग के रूप में। उदाहरण के लिए आयुर्वेद विज्ञान में मनोविज्ञान, रसायन-शास्त्र, भौतिक-विज्ञान, वनस्पति-शास्त्र तथा प्राणि-शास्त्र

आदि समन्वित होते थे। दर्शन-शास्त्र में भौतिक विज्ञान के 'शब्द' तथा 'तत्त्व' प्रकरण का समन्वय हुआ था। खनिज पदार्थों के निकालने और शोधन के साथ ही धातु-विज्ञान की प्रगति होती रही। यन्त्र बनाने का विज्ञान भी उन्नतिशील था। रामायण में यन्त्रों के द्वारा भारी-भारी पेड़ों और शिलाओं को उठा कर 'रामसेतु' बनाने का वर्णन मिलता है। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में युद्ध-सम्बन्धी बहु विध यन्त्रों का उल्लेख किया है। संभवतः यन्त्रों की उपयोगिता में लोगों को सन्देह रहा है। मनु ने लिखा है कि 'महा यन्त्र-प्रवर्त्तन' उपपातक है।

मनोरंजन

प्रकृति के साधारणतः सभी बड़े प्राणी विनोद-प्रिय हैं। अपनी जीवन की आवश्यकतायें पूर्ण हो जाने के पश्चात् प्रायः सभी बड़े जीवधारियों का कुछ न कुछ विनोद करने का स्वभाव है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्राचीन काल में जीवन की आवश्यकतायें थोड़ी थीं, उनकी पूर्ति करने के लिए लोगों का थोड़ा ही समय लगता था। ऐसी परिस्थिति में उनको मनोरंजन के लिये पूरा अवकाश मिलता था। यही कारण है कि तत्कालीन भारतवासियों में अनेक प्रकार के मनोरंजन की विधियाँ प्रचलित हो सकीं।

नाटक

मनोरंजन में नाटक का स्थान सबसे पहले आता है। प्रारम्भ में किसी दूसरे मनुष्य के चरित को समझाने या बतलाने के लिये इसका प्रयोग हुआ। इसमें मनोरंजन कम और ज्ञान अधिक होता था। धीरे-धीरे इसमें नृत्य, वाद्य, संगीत और अभिनय आदि के द्वारा मनोरंजन की सामग्री बढ़ती गई। नाटक केवल

मनोरंजन का साधन ही नहीं रहा, अपितु यह सर्वोच्च कला का प्रतिनिधि हुआ और ऐसी परिस्थिति में इसको सफलता के लिए शास्त्रीय रूप दिया गया। सर्वप्रथम भरत ने नाट्य-शास्त्र में नाटक के सिद्धान्तों का विवेचन किया। तभी से लेकर आधुनिक काल तक असख्य नाटकों की रचना हुई। नाटक के प्रारम्भिक रूप की कुछ कुछ झलक अब भी देहातों की रामलीलाओं में देखने को मिलती है।

मध्याह्न और अर्ध-रात्र को छोड़कर किसी समय भी नाटक खेले जाते थे। मधुर संगीत से भरे हुए और धार्मिक अभ्युदय के नाटक दोपहर के पहले, वीरता और उदारता सम्बन्धी नाटक दोपहर के पश्चात्, शृंगार रस के नृत्त, वाद्य और संगीत वाले नाटक रात के समय और किसी की महिमा प्रकट करने वाले अथवा करुण रस के नाटक सबेरे खेले जाते थे।

संगीत

वैदिक काल से ही भारत में उच्च कोटि के संगीत का परिचय मिलता है। इस कला का सर्वप्रथम शास्त्रीय रूप सामवेद की स्तुतियों में मिलता है। इसी से स्वरों की उत्पत्ति हुई है। तभी से सदैव संगीत की प्रतिष्ठा भारतीय समाज में रही है। धनी और दीन हीन सभी संगीत की स्वर-लहरी में विभोर होते आये हैं।

इस कला का प्रादुर्भाव पूर्णतः प्रकृति के संगीत से हुआ है। प्रकृति की संगति में ही संगीत का विकास हुआ है। संगीत के सात स्वरों की कल्पना पशु-पक्षियों की बोली से हुई है। नारद ने स्वरों का लक्षण इस प्रकार बताया है :—

षड्जं रौति मयूरस्तु गावो नर्दन्ति चर्षभम्।
अजाविकौ च गान्धारं क्रौञ्चो नदति मध्यमम्।
पुष्पसाधारणे काले कोकिलो रौति पंचमम्॥
अश्वस्तु धैवतं रौति निषादं रौति कुंजरः॥

सातों स्वरों के लिए क्रमशः मोर, गौ, भेड़, क्रौञ्च पक्षी, कोकिल, घोड़े और हाथी की बोलियाँ उदाहरण हैं।

प्रत्येक राग लय रूप में किसी रस—शृंगार, वीर आदि और किसी प्राकृतिक दृश्य, जैसे अग्नि, अर्धरात्र का वन अथवा वर्षा की झड़ी की ओर संकेत करता है। छः राग छः ऋतुओं के अनुकूल होते हैं। राग और उनके भेदों के द्वारा गायक के विषय, ऋतु और काल की अभिव्यक्ति की जाती है। इनकी सहायता से वह विभिन्न प्रकार के वातावरणों की सृष्टि करता है। भारतीय संगीत की परम्परा सदैव आनन्दमयी रही है।

वाद्य

संगीत और वाद्य की संगति प्रारंभ से ही है। गीत के राग और लय का सामंजस्य बाजे के राग और लय से होता है। सिन्धु-सभ्यता के लोग ढोल, मृदंग, वीणा और कांसताल जैसे बाजों से पूर्ण परिचित थे। वैदिक काल में जब स्त्रियाँ अपने नृत्य और संगीत का प्रदर्शन करती थीं, उस समय नृत्य की संगति में वीणा और झाल बजाये जाते थे। उत्तर वैदिक काल में वीणागाथी वीणा बजाते हुये गाते थे। कई बाजों में तो १०० तक तार लगे होते थे। इन्हें शततन्तु कहा जाता था। उस समय के अन्य बाजों के नाम वेणु, कर्करि, क्षोणी, आघाती, गर्गर, गोध तथा पिंग आदि मिलते हैं। बौद्ध काल में अनेक बाजों का आविष्कार हुआ। उस समय के

पाणिस्सर, सम्मताल, कुम्भत्थूण, भेरी,मूतिंगा, मुरज, आलंबर, आनक, शंख, पनव देण्डिमा, स्वरमुख, गोधा परिवादेन्तिका, कुटुंबतिण्डिम आदि बाजों के उल्लेख मिलते हैं। तत्कालीन उत्सव और समाजों में नृत्य, संगीत और वाद्य के द्वारा मनोरंजन होता था। भरत ने मृदंग नामक बाजे को ऊँचा स्थान दिया है। गुप्त काल में संगीत और वाद्य कला की प्रगति विशेष रूप से हुई। सम्राट् समुद्र गुप्त गाने और बजाने में निपुण था। कालिदास के ग्रन्थों के अनुसार तत्कालीन वाद्यों के नाम निम्नलिखित हैं—तूर्य, वल्लकी, आतोद्य, मृदंग, वीणा, वंशकृत्य वेणु, दुन्दुभि आदि। पल्लव राजाओं के शासन काल में कटुमुख वादित्र और समुद्र घोष युद्ध के बाजे थे।

प्राचीन काल से ही वाद्य-यन्त्र चार प्रकार के होते आये हैं—तत (तन्त्री वाले), आनद्ध (चमड़े से आच्छादित), शुषिर (छेद वाले) और घन (ठोस धातु के)। तन्त्री वाले वाद्य वीणा के अन्तर्गत आते हैं। आगे चल कर २९ प्रकार की वीणाओं के उल्लेख मिलते हैं। चमड़े से छाये हुए वाद्यों में मृदंग सर्वोच्च है। इस कोटि के अन्य प्रसिद्ध बाजे मुरज, पटह, पणव, भेरी, डमरू, दुन्दुभि आदि हैं। छेद वाले वाद्यों में वेणु या वंशी प्रसिद्ध है। यह लकड़ी, लाल चन्दन, श्वेत चन्दन, हाथी-दाँत, सोने, चाँदी, ताँबे, लोहे और स्फटिक आदि से बनाई जाती थी। घन वाद्यों का प्रतिनिधि घंटा है। इस कोटि के अन्य वाद्य करताल, घर्घरा, झंझताल, मंजीर आदि हैं।

नृत्य

नवीन प्रस्तर युग के कुछ चित्रों में नृत्य करते हुए लोगों का प्रदर्शन किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि संस्कृति के

आदि काल से नृत्य की कला विकसित होती आई है। सिन्ध-सभ्यता के युग में लोगों को नाचने का चाव था। पुरुष और स्त्री दोनों ही नृत्य करते थे। वैदिक काल में पुरुष और स्त्री का सम्मिलित नृत्य होता था। विशेष प्रकार के मनोरम वस्त्र और अलंकार पहन कर लोग नाचने के लिये निकलते थे। युद्ध-नृत्य का बड़ा चाव था। कुमारियाँ अपना नृत्य-प्रदर्शन करने के लिए उत्सुक रहा करती थीं। उस समय नृत्य की संगति में वाद्य यन्त्रों की झनकार और झालों की स्वर-लहरी आकाश में गूँज उठती थी। यजुर्वेद में बाँस पर नाचने वाले वंशनर्ती का उल्लेख मिलता है। महाभारत काल में नृत्य की शिक्षा राजकुमारियों को दी जाती थी। भरत ने नृत्य-कला को शास्त्रीय रूप दिया है। भरत के समय तक इसका बहुत विकास हो चुका था। कालिदास ने लिखा है कि संगीत शाला में नाट्याचार्य संगीत, वाद्य और नृत्य की शिक्षा देता था। इस महाकवि के अनुसार नृत्य सभी लोगों के मनोरंजन का साधन है चाहे उनकी रुचि भिन्न-भिन्न क्यों न हो।

प्राचीन काल में सदा ही संगीत और नृत्य की प्रतिष्ठा रही, कृष्ण के भक्तों में इनका विशेष रूप से मान रहा। कृष्ण के रूप की कल्पना, जो सहृदय भक्त सदा से करते आये हैं, उनकी मुरली बजाती हुई नृत्य की मुद्रा वाली भाव-भंगिमा के अनुसार है।

ऊपर मनोरंजन की जिन विधियों का उल्लेख किया गया है वे प्रधानतः कला के अन्तर्गत आती हैं। इनके अतिरिक्त भी अनेक मनोरंजन के साधन थे। उनमें से कुछ का परिचय नीचे दिया जाता है।

कथा

कथा कहने की परम्परा का प्रादुर्भाव मनुष्य के बोलने की शक्ति के दिन से ही मानना चाहिए। यह मनोविनोद पूर्णरूप से सार्वजनिक है। वैदिक काल से आज तक महापुरुषों और देवताओं की चरित-गाथा का वर्णन करना और सुनना पुण्य माना गया है। प्राचीन काल में कथा के लिए बहुत बड़े-बड़े समारोह होते थे। नगर, गाँव और वनों में सर्वत्र इस मनोरंजन का प्रसार था। कथा कहने वालों का समाज में मान था।

कविता-पाठ

भारतवासी सदा से काव्य के प्रेमी रहे हैं। वैदिक काल में यज्ञ के अवसर पर देवताओं की स्तुति करने के लिये लोग कविता पाठ करते थे। उस समय यजमानों की वीरता और उदारता के सम्बन्ध में भी लम्बी-लम्बी गाथायें पढ़ी जाती थीं। राज-सभाओं में कवियों को स्थान मिला था। कवि लोग राजाओं की भाँति दिग्विजय के लिये निकल पड़ते थे। फिर तो महा-कवि-सम्मेलन का आयोजन होता था। ऐसी परम्परा प्राचीन भारत में प्रायः सदा रही।

समाज और गोष्ठी

समाज का समारोह ब्रह्मा, शिव या सरस्वती के सम्मान में होता था। इस अवसर पर विभिन्न प्रदेशों के वीर अपने अस्त्र-शस्त्रों की कला का प्रदर्शन करते थे। मल्ल लोग लड़ा करते थे। सभी नागरिक इस समारोह का आनन्द लेते थे। विद्वानों और कलाविदों की ऐसी सभा का नाम गोष्ठी पड़ा। गोष्ठियों में पुराण, इतिहास और आख्यान के द्वारा मनोविनोद होता था।

उद्यान-यात्रा और जल-क्रीड़ा

प्रायः वसन्त ऋतु में, जब वनों और उपवनों की शोभा अधिक होती थी, लोग मनोरंजन के लिये वहाँ जाते थे. भाँति-भाँति की क्रीड़ाओं से वहाँ मनोविनोद होता था। पशु-पक्षियों की लड़ाई, आँख-मिचौनी और कलाओं के प्रदर्शन से लोगों का समय आनन्दपूर्वक कटता था। स्त्रियाँ अपने प्रियतमों के साथ फूल चुनती थीं। इसके पश्चात् या स्वतन्त्र रूप से जल-क्रीड़ा होती थी। जल-क्रीड़ा का मनोविनोद आमोद-पूर्ण होता था। प्रेमी लोग इसमें अतिशय उत्साह दिखाते थे। अधिक देर तक जल-क्रीड़ा करने के लिये दूध औषध मिला कर पिया जाता था। जल में लोग तैरते, पानी पीटते अथवा प्रेमी जनों पर जल के छींटे उछालते थे।

मृगया

मृगया केवल मनोरंजन ही नहीं है, अपितु इसके द्वारा भोजन की समस्या का समाधान हो जाता है। धनी लोग भले ही मनोरंजन के लिये मृगया करते हों, पर दीन-हीन लोग अपनी जीविका चलाने के लिए सदा से मृगया करते आये हैं। फिर भी लोगों के मृगया के दृश्यों का चित्रण करने से ऐसा प्रतीत होता है कि नवीन प्रस्तर युग से ही मृगया में लोग आनन्द भी लेते थे। सिन्धु-सभ्यता के युग में लोग मृगया के प्रति बहुत उत्साह प्रदर्शित करते थे। वे धूमधाम से ढोल बजा कर बाघ तक का शिकार कर लेते थे। वैदिक काल में सिंह, हाथी, सूअर, भैंसे, मृग, पक्षी आदि का शिकार होता था। कवियों ने मृगया की अत्यधिक प्रशंसा की है। रामायण-महाभारत से लेकर

कालिदास की रचनाओं तक सर्वत्र राजाओं को कर्मण्य बनाने के लिये मृगया करने की सीख दी गई है।

अलबेरूनी ने लिखा है कि पशुओं और पक्षियों को पकड़ने के लिये वाद्य का सहारा लिया जाता था।

जुआ

जुआ का खेल सिन्धु-सभ्यता के युग से ही भारत में सदैव प्रचलित रहा है। संभवतः यहाँ के निवासी चौपड़, पासा और चतुरंग के विविध प्रकार के खेलों से मनोरंजन करते थे। वैदिक-काल में भी इसका अच्छा प्रचार था। महाभारत काल में जुआ का धनियों में प्रचलन था। स्त्रियाँ तक जुए में दाँव पर रखी जा सकती थीं। यों तो जुआ सदैव रहा, पर समाज में जुआरियों को कभी प्रतिष्ठित स्थान न मिला। मनु ने जुआ को चोरी माना। उन्होंने नियम बनाया कि जुआरियों और जुआ खेलने का प्रबन्ध कराने वालों को राजदंड मिलना चाहिए।

शतरंज और चौसर दोनों ही खेलों का आविष्कार भारत से ही हुआ है। ये दोनों खेल सातवीं शती में ईरान होते हुए अरब पहुँचे। वहाँ से इनका प्रसार योरप में हुआ।

इन्द्रजाल

इन्द्रजाल भारत की बहुत पुरानी विद्या है। इसके द्वारा लोग अलौकिक शक्तियों को प्राप्त करके आश्चर्यजनक करतब कर दिखाते हैं। कुछ लोग सदा से ही इन्द्रजाल के द्वारा मनोरंजन करते आये हैं और इस प्रकार उन्होंने अपनी जीविका प्राप्त की है। इस विद्या के द्वारा दूसरों को प्रभावित करके प्राचीन काल से ही उनको ठगा गया है। प्रायः धूर्तों के हाथ में इन्द्रजाल रहा है।

मल्ल-युद्ध

मल्ल-युद्ध मनोरंजन का स्वाभाविक साधन रहा है। पशु-पत्ती भी मनोरंजन के लिये एक दूसरे से लड़ते देखे जाते हैं। मनुष्य तो केवल मनुष्य से ही मल्ल-युद्ध करके सन्तुष्ट नहीं हुआ, अपितु वह जंगली और पालतू पशुओं से भी लड़ाई ठान कर मनोरंजन कराता आ रहा है। मल्ल-युद्ध के लिये रंगशालायें बनती थीं, जिनके चारों ओर दर्शकों के लिये आसन का प्रबन्ध होता था। महाभारत में मल्ल युद्ध के प्रसिद्ध आचार्य भीम के करतबों का सांगोपांग वर्णन मिलता है।

मल्ल युद्ध जिस स्पर्धा का द्योतक है, उसी के आधार पर अन्य मनोरंजन दौड़ना, कूदना, गेंद खेलना, रथ दौड़ाना, गोली खेलना और मुष्टि-युद्ध आदि रहे हैं। इन सभी में शारीरिक बल और कौशल का प्रदर्शन होता है।

पारिवारिक उत्सव

आनन्द के अवसर पर धूम-धाम से उत्सव मनाने का आयोजन होता आया है। प्राचीन काल में भी प्रायः सभी संस्कारों को सम्पन्न करते समय ऊपर लिखे हुए कई मनोविनोद सम्मिलित रूप से अपनाये जाते थे। ऐसे उत्सवों का स्वरूप प्रायः सार्वजनिक होता था, जिसमें कुटुम्ब और पास-पड़ोस के लोग तथा सम्बन्धी लोग भाग लेते थे।

वसन्तोत्सव

वसन्त शृंगारमय मनोविनोदों के लिए उपयुक्त माना गया है। ऋतु के प्रारम्भ होने के दिन ही सज-धज कर लोग वसन्त का स्वागत करते थे। तब से प्रायः प्रतिदिन नृत्य और संगीत से

सार्वजनिक मनोविनोद होता था। बसन्तोत्सव का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण काम नर नारियों का पारस्परिक रंग खेलना रहा है। वसन्तोत्सव का आधुनिक रूप होली है।

शिशुओं के मनोविनोद

बच्चे स्वयं कुटुम्ब के लोगों के लिये मनोविनोद के साधन रहे और माता-पिता सदा से उनके मनोरंजन के लिये नाना प्रकार के खिलौने जुटाते रहे हैं। सिन्धु-सभ्यता के असंख्य खिलौने अब भी पाये गये हैं। बच्चों की छोटी छोटी मिट्टी की गाड़ियाँ, पशु-पक्षियों की मूर्तियाँ, झुनझुने आदि उनकी तत्कालीन प्रवृत्ति का परिचय देते हैं। कुछ मूर्त्तियों में सिर हिलाने वाले बैल बनाये गये हैं। इनके सिर अब भी ज्यों के त्यों हिलते हैं। हाथी के खिलौने को दबाने से विचित्र शब्द होता है। भागवत में कृष्ण की बाललीलाओं तथा क्रीड़ाओं का जो वर्णन मिलता है उसी के अनुरूप अब भी सारे भारत में बच्चे क्रीड़ा करते हुए दिखाई पड़ते हैं।

पशु-पक्षियों से मनोविनोद

अपने मनोरंजन के लिये मनुष्य सदा से पशु पक्षियों को पालता आया है सिंह से लेकर हरिण तक तथा मयूर से लेकर कौवे तक मनोविनोद के लिये अपनाये गये हैं। बच्चों ने पशु-पक्षियों की मिट्टी की मूर्तियाँ बना कर इनसे मनोविनोद किया है।

———

समाज की प्रतिष्ठा

वर्ण और जाति

संसार में सदा से एक का दूसरे से पृथक्त्व सूचित करने के लिये भाँति-भाँति के साधन अपनाये गये हैं। इनमें सबसे पहले नाम संज्ञा) है। प्रत्येक वस्तु का अलग-अलग नाम मिलता है, चाहे वह मनुष्य हो या पशु हो या कोई पत्थर या वनस्पति हो। नाम कभी-कभी तो उन वस्तुओं के गुण को देखकर रख लिये जाते हैं, पर प्रायः जो मन में आया वही नाम रख लेने की रीति रही है। नाम की ही भाँति उपाधियों का भी प्रचलन है। आज कल बी० ए०, एम० ए० अथवा शास्त्री, आचार्य आदि उपाधियाँ उपाधिधारी की योग्यता का परिचय देती हैं साथ ही वे उनकी श्रेणी का विभाजन भी कर देती हैं। पशुओं में उनके रंग (वर्ण), वंश, अवस्था और देश-भेद के अनुसार उनका श्रेणी-विभाजन प्रचलित है। वर्ण और जाति का भेद भी बहुत कुछ ऐसा ही है। मनुष्यों के सम्बन्ध में उनकी योग्यता, वंश, रंग आदि के आधार पर विभाजन केवल भारत में ही नहीं, सारे संसार में संभवतः संस्कृति के आदि काल से ही चलता आ रहा है और चलेगा। यह विभाजन स्वाभाविक है। विभिन्न श्रेणियों की इतनी उपयोगिता तो सदैव रहेगी कि उनके नाम से ही नामधारी के गुण और व्यक्तित्व की विशेषताओं का साधारण परिचय मिल जाता है। वर्ण और जाति से किसी मनुष्य के इतिहास-मात्र का परिचय मिलता है।

वर्णानुसार जाति

जैसा कि ऊपर लिखा गया है, वर्ण (रंगों) के आधार पर पारस्परिक भेद-विभेद की रीति सर्वत्र दिखाई पड़ती है। उदाहरण के लिये, हम कहते हैं—'काली गाय' 'लाल घोड़ा' आदि। रंगों की विभिन्नता मनुष्य जाति में भी है। इन्हीं रंगों के आधार पर प्रारम्भ में गौर और कृष्ण (काला) दो वर्ण चल पड़े। इस देश में प्रारम्भ में आर्यों का वर्ण गौर था और शेष लोगों का काला। धीरे-धीरे आर्य और अनार्य लोगों का परस्पर विवाह और सम्मिश्रण से मेल-जोल बढ़ा। ऐसी स्थिति में एक ही पिता की गौर और कृष्ण दोनों वर्णों की सन्तति होने लगी और एक ही कुटुम्ब में दो वर्ण हो गये। समाज के सामने यह एक समस्या आ खड़ी हुई। उसी दिन वर्ण (रंग) के आधार पर भेद-भाव करना अथवा किसी को उच्च या नीच समझना मिट सा गया।

सामाजिक भेद-भाव के लिये एक दूसरा आधार प्रस्तुत था, वह था कर्म और आचार। आजकल भी शिक्षक व्यापारी, वकील आदि विभिन्न वर्ग कर्मानुसार देखे जाते हैं। उस प्राचीन काल में चार प्रधान कर्म थे —पहिला ज्ञान और कर्म के द्वारा समाज का नेतृत्व करना, दूसरा शारीरिक बल और अस्त्र-शस्त्रों से समाज की रक्षा करना, तीसरा कृषि और व्यापार आदि करते हुए समाज का भरण पोषण करना और चौथा अपने सहयोग या सेवा से ऊपर के तीन व्यवसाय करने वालों को सुविधा देना अथवा शिल्प और कलाओं का अभ्यास करना। प्रारम्भ में इन व्यवसायों के करने वाले लोग एक ही कुटुम्ब में रह लेते थे, जैसा कि आजकल भी देखा जाता है। एक ऋषि ने

अपने कुटुम्ब के विषय में कहा है, 'मैं स्वयं वैदिक मन्त्रों की रचना करता हूँ, मेरा पिता वैद्य है और मेरी माता चक्की चलाती है। विभिन्न व्यवसायों के द्वारा हम लोग धन कमाने की कामना करते हैं।' यद्यपि प्रारम्भ में इन सभी व्यवसायों के करने वाले लोगों में भेद-भाव नहीं था पर आगे चल कर इन्हीं व्यवसायों के आधार पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों की प्रतिष्ठा हुई और क्रमानुसार उच्च और नीच होने का भाव भी उत्पन्न हो गया। इस प्रकार गौर और कृष्ण दो वर्णों के स्थान पर चार वर्णों की प्रतिष्ठा हुई।

जाति का उत्कर्ष और अपकर्ष

कर्मानुसार जो चार वर्ण बने वे प्रारम्भ में पूर्ण रूप से पैत्रिक नहीं होते थे। जो कर्म कोई प्रधान रूप से करने लगता था उसी के आधार पर उसका वर्ण बदल सकता था। शूद्र का पुत्र भी ऋषि और ब्राह्मण हो सकता था। स्त्रियों की तो कोई जाति ही नहीं मानी जाती थी। अपने पति की जाति और कर्म के अनुसार उनकी जाति विवाह के अवसर पर बन जाती थी।

जाति के इस प्रकार उत्कर्ष और अपकर्ष के उदाहरण वैदिक काल से लेकर ०वीं शती ई० तक मिलते हैं। दीर्घतमा, वत्स, ऐलूष कवष तथा सत्यकाम आदि सभी शूद्र दासियों के पुत्र थे, जो आचार और ज्ञान के बल से वैदिक काल में महर्षि बन सके। महाराज ऋष्टिसेन के दो पुत्रों में से ज्येष्ठ देवापि तो पुरोहित बना और दूसरा शान्तनु राजा हुआ। विश्वामित्र के क्षत्रिय से ब्राह्मण बन जाने की कथा सुप्रसिद्ध है। बृहदारण्यक उपनिषद् में कर्म के महत्त्व को सिद्ध करते हुए कहा गया है कि कर्म से देवत्व की प्राप्ति होती है। महाभारत के अनुसार 'क्षत्रिय

वंश में उत्पन्न बहुत से महात्मा ब्राह्मण होकर शाश्वत ब्राह्मणत्व पाते हैं।' भृगुमुनि के अनुसार जन्म से ब्राह्मणत्व होता ही नहीं। उनका मत है कि गुण, चरित्र और आचार के अनुसार ब्राह्मण आदि वर्ण होते हैं। क्षत्रिय राजा वीतहव्य के अकस्मात् ब्राह्मण बन जाने की विस्तृत कथा महाभारत में है। इस ग्रन्थ में राजा का कर्तव्य बतलाते हुए कहा गया है—

ये न पूर्वामुपासन्ते द्विजाः सन्ध्यां न पश्चिमाम्।
सर्वांस्तान् धार्मिको राजा शूद्रकर्माणि कारयेत् ॥

(जो ब्राह्मण सन्ध्या नहीं करते, उनसे राजा शूद्र का काम कराये)

स्मृतियों में वारंवार कहा गया है कि वेद को न जानने वाला पुरुष ब्राह्मण कुल में उत्पन्न होने पर भी शूद्र है। मनु ने कर्मानुसार जाति का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि तप और बीज के प्रभाव से जाति का उत्कर्ष होता है। अपनी जाति के योग्य कर्म न करने से अनेक क्षत्रिय वृषल (शूद्र) हो गये हैं ब्रह्मपुराण में 'वृत्ते स्थितश्च शूद्रोऽपि ब्राह्मणत्वं च गच्छति' शूद्र के ब्राह्मण बन जाने का स्पष्ट उल्लेख है। भागवत पुराण में गार्ग्य, तर्यारुणि, कवि और पुष्करारुणि आदि क्षत्रियों के ब्राह्मण बनने तथा नाभाग नामक क्षत्रिय के वैश्य हो जाने के उल्लेख मिलते हैं। तालगुण्ड के शिलालेख में कदम्बों के ब्राह्मण से क्षत्रिय राजा बन जाने का ऐतिहासिक प्रमाण है। इस वंश की नींव मयूर शर्मा नामक ब्राह्मण ने डाली थी। उसके वंशज वर्मा कहलाये। मयूर शर्मा से चौथी पीढ़ी के ककुस्थ वर्मा ने अपनी कन्याओं का विवाह गुप्त वंशीय एवं अन्य राजाओं से किया। विदेशों से जो कोई भी जाति भारत आई, वे सभी ब्राह्मण या क्षत्रिय कर्मानुसार बन गईं।

जन्मानुसार जाति

प्रायः पिता या कुटुम्ब का कर्म कोई बालक अपना लेता है। वैदिक काल अथवा उसके पश्चात् भी सामाजिक परिस्थिति के अनुकूल परम्परा यही थी कि कोई मनुष्य सुविधापूर्वक अपना पैत्रिक व्यवसाय करने लगे, पर इसके लिये कोई दृढ नियम नहीं था जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है। इस प्रकार कर्मानुसार जाति-व्यवस्था के दृढ हो जाने पर जन्मानुसार जाति-प्रथा का प्रचलन हुआ। धीरे-धीरे प्रत्येक जाति का अपना संगठन बनता गया। प्रत्येक व्यवसाय करने वालों की एक-एक जाति बनती गई। व्यवसाय असंख्य हैं और ऐसी परिस्थिति में जातियाँ भी असंख्य हो चलीं।

जातियों के कर्तव्य

सभी जाति के लोगों के लिये, चाहे वे जीवन के किसी क्षेत्र में क्यों न हों सदाचार आवश्यक माना गया था। प्राचीन साहित्य में सर्वत्र ही सत्कर्म के द्वारा इस जन्म में तथा पुनर्जन्म होने पर उच्चतर जाति की प्राप्ति होना संभव बताया गया है। मानव-जाति में उत्पन्न होने के नाते ही मानव धर्म का पालन करना सबके लिये आवश्यक समझा जाता था। सभी प्राणियों के प्रति दया-भाव रखना, शीत-उष्ण आदि द्वन्द्वों को सहना, अभिमान न रखना, किसी को कष्ट न पहुँचाना, सबको लाभ पहुँचाना, प्रिय वचन बोलना, सब के प्रति मित्रता का भाव रखना, किसी वस्तु की कामना न करना, कृपणता न करना, क्रोध न करना, सच बोलना, धन को बाँट कर खाना, क्षमा, पर-स्त्री को पूज्य भाव से देखना, पवित्रता, द्रोह न करना, किसी

का दोष न देखना, सरलता और आश्रित प्राणियों का भरण-पोषण करना—ये सभी वर्णों के लिये समान रूप से कर्तव्य माने गये थे।

ब्राह्मणों में 'शिष्ट' सर्वोच्च गिने जाते थे। वे राग-द्वेष से विहीन, निरभिमान और निर्लोभ होते थे। वेदों का ज्ञान प्राप्त करके उसका प्रसार करने में ही ब्राह्मण जीवन बिता देते थे। उनमें धन सग्रह न करने की अनुपम प्रवृत्ति थी। वैदिक काल के ब्राह्मण तो कृषि करते थे और साथ ही पशु-पालन से भी धन-संग्रह कर लेते थे, पर आगे चल कर उनको प्रतीत हुआ—

वेदः कृषिविनाशाय कृषिर्वेदविनाशिनी।
शक्तिमानुभयं कुर्यादशक्तस्तु कृषिं त्यजेत्॥

(वेद और खेती का सामञ्जस्य नहीं। ये एक दूसरे के विरोधी पड़ते हैं। शक्तिशाली दोनों कर सकते हैं पर अशक्त खेती को छोड़ दे।)

ब्राह्मण की जीवन-पद्धति तपोमय थी। वह लोक कल्याण के लिये यज्ञ में पुरोहित बन सकता था। पुरोहित होकर दान भी कुछ ब्राह्मण लेते थे, पर दानवृत्ति की सदा निन्दा की गई है। गीता में ब्राह्मण का कर्म बताया गया है।

शमो दमस्तपः शौचं शान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानविज्ञानमास्तिकयं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥

(शम, दम, तप, शौच, शान्ति, सरलता, ज्ञान, विज्ञान, आस्तिकता—ये ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म हैं।)

राष्ट्र में राजा स्वयं ब्राह्मणों के सुख की चिन्ता करता था। क्षत्रिय अपने शारीरिक बल और अस्त्र-शस्त्रों से प्रजा की रक्षा करते आये हैं। उनके लिए उत्साह और आत्म-बलिदान का

महत्त्व था। प्रायः सारा जीवन युद्ध की शिक्षा लेने में और युद्ध-भूमि में लड़ते ही बीत जाता था। अनेक क्षत्रिय उच्च कोटि के दार्शनिक और साहित्यिक भी हुए हैं। क्षत्रिय का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कर्तव्य राष्ट्र में धर्म की प्रतिष्ठा करना रहा है। शासन व्यवस्था चलाने का मुख्य भार इन्हीं पर था। वर्णाश्रम-धर्म की प्रतिष्ठा क्षत्रियों के द्वारा ही की जाती थी। क्षत्रिय राजाओं के बनवाये हुए अनेक मन्दिर, झील और राज-पथ अब भी उनकी पुण्यमयी प्रवृत्ति के स्मारक हैं।

वैश्य भी ब्राह्मणों और क्षत्रियों की भाँति उच्च शिक्षा प्राप्त करते आये हैं। गृहस्थाश्रम में कृषि और पशु-पालन के द्वारा सारे समाज का भरण-पोषण करना इनका प्रधान कर्तव्य रहा है। वैश्य सदा उत्पादन-कार्य में ही नहीं लगे रहते थे। वे अपने श्रमपूर्ण जीवन से कुछ समय प्रतिदिन अध्ययन के लिए अवश्य निकाल लेते थे। ब्राह्मण समाज को ज्ञान, क्षत्रिय शान्ति और वैश्य भोजन और वस्त्र देते थे। कुछ वैश्य राजा भी हुए हैं। इनमें हर्षवर्धन का नाम सुप्रसिद्ध है।

उपनिषदों में शूद्र को पोषक कहा गया है। वे ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्यों को सहयोग देकर समाज की रक्षा तो करते ही थे, पर अधिकतर शूद्र सदा से स्वतन्त्र रूप से व्यापार या शिल्प-कर्म करते आये हैं। ब्राह्मण और क्षत्रिय के कुछ विशिष्ट व्यवसायों को छोड़कर शूद्र किसी भी काम को अपना सकते थे। प्राचीन भारत में शूद्र राजा भी होते थे। कौटिल्य ने शूद्रों की सेना का भी उल्लेख किया है। भारतीय साहित्य में कुछ दार्शनिक और विचारक शूद्रों का उल्लेख मिलता है। गीता में बताया गया है कि कृष्ण भगवान् की शरण लेने वाले शूद्र मोक्ष के अधिकारी हैं।

अस्पृश्यता

भारतीय दार्शनिक विचार-धारा के अनुसार सभी ब्रह्म के स्वरूप हैं। यह विचार-धारा सभी प्राणियों के प्रति समभाव की दृष्टि उद्बोधित करती है। अस्पृश्यता की रीति इस विचार-धारा के प्रतिकूल पड़ती है। इस कुरीति का एकमात्र आधार अहंभाव की प्रौढता और अज्ञान रहे हैं।

वैदिक काल में अस्पृश्यता का कोढ़ नहीं था। गौतम ने ब्राह्मणों के विषय में लिखा है कि वे पशु-पालक कृषक, कुल के मित्र नाई अथवा दास आदि के घर पर भोजन कर सकते हैं, यद्यपि वे शूद्र हों। आपस्तम्ब के अनुसार शूद्र भोजन बनाने के लिये ब्राह्मण के घर नियुक्त हो सकता है; हाँ, ब्राह्मण, या वैश्य जाति का कोई मनुष्य वहाँ अध्यक्ष रहना चाहिए। पराशर के अनुसार ब्राह्मण खाने के लिए शूद्र के घर से घी, तेल, दूध, गुड़ और तेल की पकी वस्तुयें ले सकता है, पर उन्हें नदी के तट पर ले जाकर खाये। उपर्युक्त विवरणों से ज्ञात होता है कि जैसी अस्पृश्यता भारत के कुछ सनातनी कोनों में आज-कल पाई जाती है, वैसी इस देश में प्राचीन काल में कभी नहीं थी अस्पृश्यता का ढोंग मध्ययुगीन है।

जाति-प्रथा से हानि-लाभ

जाति-व्यवस्था का मूलाधार जब तक कर्म और सदाचार रहे हैं, वह अवश्य ही समाज के लिये लाभप्रद सिद्ध हुई है। कोई शूद्र ही क्यों न हो यदि वह ब्राह्मणोचित कर्म करे तो समाज उसे ब्राह्मण मानता था, पर दुर्भाग्यवश ऐसी जाति का व्यवस्था भारतीय समाज में वैदिक काल के पश्चात् सार्वजनिक

हैं और समय-समय पर उनके नवजात शिशु होते हैं, जो स्वावलम्बी होते ही माता-पिता को छोड़ कर अपने लिए अलग घर बना लेते हैं। कुछ पशुओं में केवल मातायें और उनके असहाय शिशु ही होते हैं। इस प्रकार कहा जा सकता है कि मानव का कुटुम्ब सबसे बड़ा होता है।

कुटुम्ब की योजना में स्त्रियों का प्रधान हाथ रहा है। शिशु को जन्म देने के कुछ पहले और पश्चात् भी वे ऐसी परिस्थिति में होती हैं कि कोई उनके भरण-पोषण तथा सुरक्षा की चिन्ता करे। शिशु भी दो-चार मास अथवा वर्षों में ही स्वावलम्बी नहीं हो पाते और उनके लिये बहुत दिनों तक अपनी माता के आश्रय में रहना आवश्यक ही है। स्त्री स्वयं इतने भार को उठाने में असमर्थ होती है। वह अपने और अपने शिशुओं के भरण-पोषण के लिये कुटुम्ब की योजना करती है। उस कुटुम्ब का अध्यक्ष पति (गृहपति) होता है।

पहले कहा जा चुका है कि कुछ गृहस्थ पुत्रों के युवा हो जाने पर वन में जाकर तप और समाधि में लीन हो जाते थे। वानप्रस्थ के लिए समय भी नियत था। घर छोड़ने वाले मनुष्य का कर्तव्य होता था कि वह किसी प्रकार का ऋण या भार कुटुम्ब पर न छोड़ जाय, अपनी कन्याओं का विवाह योग्य वर के साथ कर ले और पुत्र के लिए समुचित जीविका का प्रबन्ध कर जाय। पिता के इस प्रकार वानप्रस्थ लेने पर कुटुम्ब में केवल माता, उसका पुत्र और पुत्रवधू होती थीं, पर कभी-कभी माता भी पिता के साथ ही वन में जाकर तप करती थीं और कुटुम्ब का प्रारंभ केवल दो ही प्राणियों—पति और पत्नी से होता था। ऐसे वानप्रस्थ लोगों की संख्या सदैव स्वल्प ही रही है। कुटुम्ब

में साधारणतः माता-पिता, गृहपति, गृहपत्नी और उनके शिशु (पुत्र और कन्या) माने जा सकते हैं।

कुटुम्ब में माता-पिता का स्थान सबसे ऊँचा माना गया है। वे दोनों पुत्र के जन्म के समय से ही प्राणपण से उसके अभ्युदय, सुख और स्वास्थ्य के लिये प्रयत्नशील रहते थे। उपनिषद्-काल में मरणासन्न पिता पुत्र के अभ्युदय की कामना से कहता था 'तुम ब्रह्म हो, तुम यज्ञ हो, और तुम लोक हो।' पुत्र भी कहता था कि मैं ब्रह्म हूँ, मैं यज्ञ हूँ और मैं लोक हूँ।' तैत्तिरीय उपनिषद् में स्नातक को शिक्षा दी गई है कि माता-पिता को देवता समझो। महाभारत में भीष्म ने युधिष्ठिर को शिक्षा दी है कि माता-पिता की सेवा करना सर्वश्रेष्ठ धर्म है। माता-पिता यदि धर्म के विरुद्ध आज्ञा दें तो भी उसका पालन करना चाहिये। माता, पिता और आचार्य तीनों लोक, वेद, आश्रम और अग्नि हैं। इनको भोजन कराने के पहले स्वयं भोजन नहीं करना चाहिए। पिता का गौरव आचार्य से दस गुना है और माता का गौरव पिता से भी दस गुना होता है। पद्मपुराण के अनुसार माता-पिता की पूजा करके मनुष्य जिस धर्म का साधन करता है, वह इस पृथिवी पर सैकड़ों यज्ञ तथा तीर्थ-यात्रा आदि के द्वारा भी दुर्लभ है। पिता धर्म है, स्वर्ग है और पिता ही सर्वोत्कृष्ट तपस्या है। माता सर्व तीर्थमयी है और पिता सम्पूर्ण देवताओं का स्वरूप है, इसलिये सब प्रकार से यत्नपूर्वक माता-पिता का पूजन करना चाहिये। जब तक माता-पिता के चरणों की धूलि पुत्र के मस्तक और शरीर में लगती रहती है, तभी तक वह शुद्ध रहता है।

केवल जीवन-काल में ही माता-पिता के सन्तोष के लिये सन्तान प्रयत्न नहीं करती थी, अपितु उनके मर जाने पर भी

प्रतिदिन तर्पण के द्वारा उनको परितृप्ति की जाती थी। भारतीय वाणी है—

जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी ॥

पूज्य गुरु जनों में माता का स्थान सर्वोच्च रहा है। कुछ धर्म सूत्रों में आदेश दिया गया है कि यदि माता अपनी पापमयी प्रवृत्ति के कारण बहिष्कृत हो तो भी उसकी सदैव सेवा करनी चाहिए, क्योंकि माता बहुत परिश्रम से पालन-पोषण करती है।

कुटुम्ब में सदा ही पति-पत्नी की एकमुखी प्रवृत्ति रही है। विवाह के अवसर पर पति कहता था—मैं सौभाग्य के लिये तुम्हारा हाथ पकड़ता हूँ; मेरे साथ तुम वृद्धावस्था प्राप्त करो; भग, अर्यमा, सविता और पूषा ने गृहस्थ-धर्म का पालन करने के लिए तुम्हें मुझको दिया है।

वैदिक काल से ही पति और पत्नी के एक साथ ही धार्मिक कृत्य करने की रीति के उल्लेख मिलते हैं। तैत्तिरीय ब्राह्मण में यज्ञ के कार्यों में पति-पत्नी की उपमा जोड़े बैल से दी गई है और उनके एक मन होकर शत्रुओं के नाश करने की क्षमता की प्रशंसा मिलती है। कवि ने कामना की है कि वे दोनों ही शाश्वत स्वर्ग का प्रकाश पायें। पत्नी घर की साम्राज्ञी होती थी तो पति सम्राट्। उनके एक साथ धार्मिक कृत्य करने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि पत्नी विदुषी और योग्य होती थी। पत्नी शब्द का मौलिक अर्थ है—पति के साथ यज्ञ-सम्पादन करने वाली।

वैदिक मन्त्रों में कौटुम्बिक सुख के लिये पत्नी की आवश्यकता बताई गई है। ऋग्वेद में कहा गया है कि पत्नी के बिना घर घर नहीं है, पत्नी ही घर है, पत्नी ही गृहस्थी है। घर में ही आनन्द है क्योंकि वहाँ पत्नी है।

पत्नी का सर्वोच्च धर्म पति की सेवा करना रहा है। वैदिक काल से ही ऐसी स्त्रियों के प्रायः उल्लेख मिलते हैं, जिन्होंने अपना सर्वस्व त्याग करके पति की सेवा और आराधना की है। रोगी और पापी पति का भी निरादर न करना ही स्त्री का कर्तव्य माना गया है। पति के इसी महत्त्वपूर्ण पद की मर्यादा रामायण, महाभारत तथा पुराण आदि ग्रन्थों में प्रतिष्ठित की गई है। मनु ने लिखा है कि अच्छी पत्नी का कर्तव्य है कि वह दुश्चरित्र पति को भी देव-तुल्य मानकर उसकी सेवा करे। महाभारत में पत्नी की कर्तव्य परायणता की ओर संकेत करते हुए कहा गया है कि किसी स्त्री के लिये उसके माता पिता, भाई और पुत्र का दान तो कुछ न कुछ होता ही है, पर पति का दान अपरिमित है।

पत्नी घर की लक्ष्मी होती थी। वह अलंकार, वस्त्र, अनुलेपन आदि से सुसज्जित होकर मधुर वाणी और अनुकूल व्यवहार से पति का अनुरंजन करती थी। समाज में लज्जावती होना उसका भूषण माना गया है। मनु ने पत्नी के कर्तव्यों का निर्देश करते हुए बताया है कि पत्नी को सदैव प्रसन्न रहना चाहिए। वह कार्यशील, निरलस और गृहकर्म में कुशल बने और घर के बर्त्तनों को सदैव चमकता हुआ रखे। ऐसा प्रतीत होता है कि कुटुम्ब के अभ्युदय में पत्नी का अधिक हाथ था। मनु के अनुसार पत्नी घर का कोषाध्यक्ष भी होती थी। उन्होंने पत्नी की मितव्ययिता की प्रशंसा की है। आजकल की भाँति मनु के समय में भी पत्नी भोजन पकाती थी और घर की वस्तुओं की देख-भाल करती थी। उस समय की पत्नी के जीवन की सरलता उल्लेखनीय है। वह मद्यपान नहीं कर सकती थी, न तो वह स्वच्छन्द विचरण कर सकती थी और न अपरिचित लोगों के

घर ठहर सकती थी। याज्ञवल्क्य ने पत्नी के लिये सास और ससुर का आदर करना और चरण छूकर अभिवादन करने की रीति का उल्लेख किया है। पत्नी के व्यक्तित्व की गरिमा की प्रतिष्ठा करते हुए शंख ने लिखा है कि उसे मन्दगति से चलना चाहिए पर-पुरुष से बात नहीं करनी चाहिए वह अपने वस्त्रों के द्वारा चरणों तक ढकी रहे और पतिव्रता स्त्रियों के अतिरिक्त अन्य स्त्रियों की संगति में न रहे। इस प्रकार पत्नी अपनी कर्तव्य-परायणता, स्वभाव-माधुर्य और सुरुचिपूर्ण गृह-विन्यास से पति का संवर्धन करती थी। भारतीय पति-पत्नी का आदर्श राम और सीता तथा सावित्री और सत्यवान् आदि की कथाओं में अमर है।

कुटुम्ब में सबसे अधिक काम करने वाला गृहपति होता था। वह केवल पूरे कुटुम्ब का ही भरण-पोषण नहीं करता था, अपितु उसके ऊपर समाज के प्रति भी उत्तरदायित्व होता था। जो कोई भी अतिथि बन कर आता था, उसके भोजन और विश्राम की व्यवस्था करना प्रत्येक गृहस्थ का प्रधान कर्तव्य था। मनु के शब्दों में --

देवातिथिभृत्यानां पितृणामात्मनश्च यः
न निर्वपति पंचानामुच्छ्वसन्न स जीवति ॥

(जो गृहस्थ देवता, अतिथि, भृत्य, माता-पिता और अपना संरक्षण नहीं करता, वह श्वास लेते हुए भी निष्प्राण है।)

भारतीय विचार-धारा के अनुसार पुत्र पिता को पुत् नामक नरक से बचाता है, अतएव वह पुत्र है। पिता का अपने पूर्वजों के ऋण से मुक्ति पाने के लिये पुत्र को जन्म देना आवश्यक है। ऐसी परिस्थिति में पुत्र का कुटुम्ब में सर्वोच्च स्थान रहा है। वैदिक काल में लोगों का विश्वास था कि सन्तति से अमरता की

प्राप्ति होती है। ऋषियों ने पद-पद पर वीर पुत्र पाने की कामना की है। पुंसवन संस्कार भी इसी विचार-धारा का परिणाम है। ऋग्वेद में नववधू को पुत्र-प्राप्ति के लिए इन शब्दों में आशीर्वाद दिया जाता था, 'अपने घर में पुत्रों और पौत्रों के बीच तुम क्रीड़ा करती रहो। हे इन्द्र! तुम इसे सौभाग्यशालिनी और पुत्र-वती बनाओ। इसको दस पुत्र दो।' ऐसी परिस्थिति में धर्मशास्त्रों में यह नियम बना कि यदि प्रथम पत्नी से पुत्र न होता हो तो दूसरी पत्नी से पुत्र उत्पन्न करना ही चाहिये।

महाभारत के अनुसार सौ कुओं की अपेक्षा एक जलाशय बनवाने में अधिक पुण्य है, जलाशय से अधिक पुण्य यज्ञ में है और यज्ञ से अधिक पुत्र में।

कालिदास ने अभिज्ञान शाकुन्तल में पुत्र की महिमा इस श्लोक में व्यक्त की है:—

आलक्ष्यदन्तमुकुलाननिमित्तहासै-
रव्यक्तवर्णरमणीयवचःप्रवृत्तीन्।
अंकाश्रयप्रणयिनस्तनयान्वहन्तो
धन्यास्तदंगरजसा मलिनीभवन्ति॥

(अकारण ही हँसने से जिस शिशु के दाँतों की झलक मिल जाती हो, जो अस्पष्ट मनोरम तुतली बोली में कुछ कहता हो, जो गोद में बैठ जाना चाहता हो, ऐसे पुत्रों को लेने वाले सौभाग्य-शाली लोग ही उनके अंगों में लगी हुई धूलि से धूसरित होते हैं।)

मनु ने कौटुम्बिक शालीनता को बनाये रखने वाले पुरुष को पुण्यभागी माना है। मनु के अनुसार माता-पिता, जामाता, भ्राता, पुत्र, भार्या, कन्या और दास-वर्ग से विवाद न करने वाला पुरुष पुण्य लोकों में जाता है और सभी पापों से छुटकारा

पा जाता है। मनु का कहना है कि बड़ा भाई पिता के समान है, स्त्री और पुत्र तो अपने शरीर ही हैं, दासवर्ग अपनी छाया के समान होते हैं, बेटी दया-पात्र है; ऐसी परिस्थिति में इन लोगों के तिरस्कार करने पर भी चुपचाप रहना चाहिए।

नागरिकता

प्रत्येक युग में वे ही महामानव आदर्श नागरिक गिने गये हैं, जिन्होंने अपने कार्य-कलाप से राष्ट्र के जीवन-स्तर को उच्चतर बनाने का सफल प्रयास किया है तथा मानव-स्वभाव की तुच्छ प्रवृत्तियों का निरोध किया है। इस दिशा में आर्यों ने सर्वप्रथम 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के अमर सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की। नागरिकता की दृष्टि से इस सिद्धान्त का महत्त्व कम से कम इतना तो अवश्य ही है कि सारा नगर या राष्ट्र एक कुटुम्ब है। ज्यों ही नागरिक यह समझ लेता था कि मेरा व्यक्तित्व अकेला नहीं है, अपितु मेरा कुटुम्ब है और वह कुटुम्ब दो-चार प्राणियों का ही नहीं बल्कि समग्र नागरिकों या राष्ट्र-वासियों का है, उसकी उदात्त भावनायें जागरित हो उठती थीं तथा उसके व्यक्तित्व का विकास होने लगता था। इस देश में वैदिक काल के आरम्भ से ही नागरिकों के व्यक्तित्व को समुन्नत करने के लिये गायत्री-मन्त्र की सीख दी गई। इस मन्त्र में भूः, भुवः और स्वः से क्रमशः पृथिवी, वायु लोक तथा स्वर्ग लोक का बोध कराया जाता था। इन शब्दों के जप से मानव के मानस-पटल पर अखिल विश्व का चित्र अङ्कित किया जाता था। इसका मन पर तात्कालिक प्रभाव यही पड़ता था कि मैं अकेला अथवा अपने तक ही सीमित नहीं हूँ, यह अखिल विश्व मेरे उपभोग के लिए है और मैं भी अखिल विश्व के उपभोग के लिये हूँ। प्रतिदिन इस प्रातःकालीन विचार-धारा के द्वारा

नागरिक अपनी शक्तियों को स्फूर्तिमयी बनाता था और सार्व-भौम व्यक्तित्व में अपने व्यक्तित्व को संयोजित करके अपने काम में लग जाता था। अथर्व वेद में ऐसे ही आदर्श मनीषी को आदेश दिया गया है :—'शतहस्त समाहर, सहस्रहस्त संकिर।' अर्थात् सौ हाथों वाला होकर कमाओ पर सहस्र हाथों वाला होकर वितरण करो। इस वेद में महर्षि ने नागरिकों के ऐसे कुटुम्ब की कल्पना की है और उसका चित्रण इन शब्दों में किया है :—ता वः प्रजाः संदुहतां समग्रा वाचो मधु पृथिवि धेहि मह्यम्।' अर्थात् हे पृथिवी! हम सब लोग तुम्हारी प्रजा मिलकर मधुर वाणी बोलें, उसे दो।

बृहदारण्यक उपनिषद् में नागरिक की प्रार्थना इन शब्दों में मिलती है :—'दिशामेकपुण्डरीकमसि। अहं मनुष्याणामेक-पुण्डरीकं भूयासम्' अर्थात् हे सूर्य! तुम दिशाओं के सर्वोत्तम कमल हो, मैं भी मनुष्य जाति का सर्वोत्तम कमल बन जाऊँ। उपनिषद् काल का नागरिक मनुष्य-जाति का अलंकार बनना चाहता था। श्रेष्ठ नागरिक के द्वारा मानव-जाति के कल्याण की अभिव्यक्ति छान्दोग्य उपनिषद् के इस वाक्य से भी होती है :—

'यो वै भूमा तत्सुखं, नाल्पे सुखमस्ति, भूमैव सुखं, भूमात्वेव विजिज्ञासितव्य इति।'

महाभारत में नागरिक की स्पष्ट परिभाषा नीचे लिखे श्लोक में मिलती है :—

सर्वेषां यः सुहृन्नित्यं सर्वेषां च हिते रतः।
कर्मणा मनसा वाचा स धर्मं वेद जाजले॥

अर्थात् जो मानव मन, कर्म और वचन से नित्य ही सभी प्राणियों का मित्र है तथा सब के उपकार में लगा हुआ है

वही धर्म जानता है। इसके साथ ही कहा गया है—न तत्परस्य संदध्यात् प्रतिकूलं यदात्मनः।' ऐसा व्यवहार अन्य लोगों के साथ नहीं करना चाहिए जो अपने को प्रतिकूल अर्थात् दुःख-कारक प्रतीत हो। भीष्म ने इस ग्रन्थ में आदर्श नागरिक का लक्षण बताया है कि वे दानशील, प्रियवादी, जितेन्द्रिय, लज्जा-शील, संयमी, सत्यवादी, हृष्ट-पुष्ट, पवित्र और कार्य-कुशल होते हैं। इस ग्रन्थ के अनुसार मन से समस्त जीवों का कल्याण सोचना ही कर्तव्य है। महाभारत ने निश्चित किया है कि भय से डरा हुआ मनुष्य जिसके पास जाकर एक क्षण भी शान्ति पा सके वही स्वर्ग का सबसे बड़ा अधिकारी है। कुन्ती ने भीम को शिक्षा दी है कि कृतज्ञता ही मनुष्य का जीवन है। जितना उपकार कोई मनुष्य तुम्हारे लिए करता है उससे बढ़ कर उपकार तुम उस मनुष्य के लिए करो।

श्रीमद्भगवद्गीता में कर्मयोगी की जो परिभाषा दी गई है वह नागरिक के लिए भी उपयुक्त है। जिस पुरुष की बुद्धि सभी प्राणियों में सम हो गई है तथा परार्थ में जिसके स्वार्थ का सर्वथा लय हो गया है, वह स्वयंप्रकाश या बुद्ध है। ऐसे लोगों की सर्वत्र आवश्यकता है। साधारण जन-समाज में रह कर अपने प्रयत्नों से उसे उन्नति की ओर अभिमुख करना उनका एकमात्र कर्तव्य है। बृहदारण्यक उपनिषद् के 'यत्र वा अस्य सर्वमात्मैवाभूत्' की पृष्ठभूमि पर गीता में 'सर्वभूत-स्थमात्मानं, सर्वभूतानि चात्मनि' की कल्पना की गई है। ऐसी परिस्थिति में कर्मयोगी स्वभावतः ही सोचने लगता है कि जब मैं प्राणिमात्र में हूँ और मुझ में सभी प्राणी हैं, तब अन्य लोगों के प्रति वैसा ही आचरण करना चाहिए जो अपने प्रति किये

जाने पर सुखावह प्रतीत होता हो। बौद्ध ग्रन्थ सुत्तनिपात में इसी मनोभाव का निदर्शन इस प्रकार किया गया है :—

यथा अहं तथा एते यथा एते तथा अहं।
अत्तानं उपमं कत्वा न हनेय्यं न घातये।

अर्थात् जैसा मैं हूँ वैसे ही अन्य प्राणी भी हैं, ऐसी परिस्थिति में दूसरों को अपने समान ही मान कर किसी प्रकार उनकी हानि नहीं करनी चाहिए।

बौद्ध काल में नागरिक का परिलक्षण विविध निदर्शनों के द्वारा किया गया है। धम्म-पद के अनुसार

उट्ठानवतो सतिमतो सुचिकम्मस्स निसम्मकारिणो।

सञ्ञतस्स च धम्मजीविनो अप्पमत्तस्स यसोभिवड्ढति॥

अर्थात् उद्योगी, जागरूक, पवित्र कर्म करने वाले, संयमी, धर्मानुसार जीविका चलाने वाले तथा अप्रमादी मनुष्य के यश की वृद्धि होती है। सत्पुरुष का अभिनन्दन करते हुए आगे कहा गया है :—

न पुप्फ-गन्धो पटिवातमेति
न चन्दनं तगरमल्लिका वा।
सतं च गन्धो पटिवातमेति
सब्बा दिसा सप्पुरिसो पवाति॥

अर्थात् न तो पुष्पों की सुगन्ध, न चन्दन की सुगन्ध, न तगर अथवा चमेली की सुगन्ध हवा के विरुद्ध जाती है; परन्तु सत्पुरुषों की सुगन्ध हवा के विरुद्ध भी जाती है। सत्पुरुष सभी दिशाओं में अपनी सुगन्ध फैलाते हैं।

बौद्ध काल का नागरिक निन्दा और प्रशंसा की चिन्ता नहीं करता था। उपर्युक्त ग्रन्थ में पण्डित की उपमा ठोस पहाड़ से दी गई है। जैसे ठोस पहाड़ वायु के वेग से नहीं डोलता वैसे

ही पण्डित निन्दा और प्रशंसा से कम्पित नहीं होता। सच्चे नागरिक के व्यक्तित्व का स्पष्टीकरण आदर्शहीन नागरिक से तुलना करते हुए इस प्रकार किया गया है :—

दूरे सन्तो पकासेन्ति हिमवन्तो व पब्बता।
असन्ते त्थ न दिस्सन्ति रत्तिखित्ता यथा सरा॥

अर्थात् सत्पुरुष हिमालय पर्वत की भाँति दूर से ही प्रकाशित होता है; परन्तु असज्जन रात में फेंके हुए बाण की भाँति दिखाई नहीं देते। असज्जन के विषय में आगे चल कर कहा गया है :—

मिद्धी यदा होति महग्घसो च
निद्दायिता सम्परिवत्तसायी।
महावराहो व निवापपुट्ठो
पुनप्पुनं गब्भमुपेति मन्दो॥

अर्थात् जो आलसी, बहुत खाने वाला, निद्रालु, करवट बदल कर सोने वाला, दाना खाकर मोटे सूअर की भाँति होता है, वह मन्दमति वारम्वार गर्भ में पड़ता है। इस प्रकार धम्म-पद में नागरिक को उद्योगी, यशस्वी, गम्भीर तथा लोकोपकार की भावना से अनुप्राणित माना गया है और कहा गया है :—

सुखकामानि भूतानि यो दण्डेन विहिंसति।
अत्तनो सुखमेसानो पेच्च सो न लभते सुखं॥

जो मनुष्य अपना सुख चाहते हुए सुख की कामना करने वाले अन्य प्राणियों की हिंसा करता है, वह मर कर सुख नहीं पाता।

भारतीय नागरिक के स्वरूप की जो रूप-रेखा सम्राट् अशोक ने बनाई थी उसका अङ्कन तत्कालीन शिलालेखों में अशोक के

शब्दों में ही मिलता है। अशोक ने लिखवाया—'माता और पिता की सेवा करनी चाहिए, सत्य बोलना चाहिए, विद्यार्थी को आचार्य की सेवा करनी चाहिए और अपने ज्ञाति-भाइयों के प्रति उचित व्यवहार करना चाहिए।' अशोक ने धार्मिक मंगलाचार की प्रतिष्ठा की और उसमें दास और सेवकों के प्रति उचित व्यवहार, गुरुओं का आदर तथा प्राणियों की अहिंसा को सम्मिलित किया। उसने नागरिकों में सभी धर्मों के प्रति सहिष्णुता की भावना को जागरित किया और नियम बनाया कि सभी धर्मों की उन्नति के लिये वाक्संयम अपेक्षित है। लोग केवल अपने ही धर्म का आदर तथा दूसरे धर्मों की निन्दा न करें। सब धर्मों का आदर करना लोगों का कर्तव्य है। ऐसा करने से अपने धर्म की उन्नति तथा दूसरे धर्मों का उपकार होता है। सभी धर्म वालों का मेल-जोल अच्छा है। अशोक ने विचारशील व्यक्तियों के लिये आत्म-परीक्षा की कसौटी नियत करते हुए कहा है कि यों तो अपने दोषों को स्वयं देखना कठिन है, तथापि मनुष्य को यह देखना चाहिए कि चण्डता, निष्ठुरता, क्रोध, मान और ईर्ष्या ये सब पाप के कारण हैं।

अशोक ने नागरिकों के लिये नियम बनाया कि उन्हें थोड़ा व्यय और थोड़ा ही संचय करना चाहिए।

अशोक ने केवल सिद्धान्त रूप में उपदेश ही नहीं दिया है अपितु उसने प्रजा के समक्ष अपने आदर्श जीवन का उदाहरण भी प्रस्तुत किया। अशोक की निःस्वार्थ कर्मनिष्ठा पर दृष्टिपात कीजिये। उसने बौद्ध दर्शन के द्वारा अनुप्राणित साधु जीवन की प्रतिष्ठा केवल भारत में ही नहीं की अपितु विदेशों में भी उसका प्रसार करने में अपना जीवन लगा दिया। प्रजा का काम

तत्परता से करने के लिये उसने ऐसा प्रबन्ध किया जिससे उसको भोजन करते हुए, अन्तःपुर में बैठे हुए, शयन-गृह में पड़े हुए, रथ में यात्रा करते हुए, अथवा उपवन में प्रकृति का सौन्दर्य देखते हुए—सदा ही गुप्तचरों से प्रजा का समाचार मिलता रहता था। उसने अपनी प्रतिज्ञा इन शब्दों में अमर की है :—मैं सर्वत्र प्रजा का काम करूँगा, मैं कितना ही परिश्रम करूँ, कितना ही राज-काज करूँ, मुझे पूरा सन्तोष नहीं होता। सब लोगों का हित परिश्रम और राज-कार्य सम्पादन के बिना नहीं हो सकता। सब लोगों के हित-साधन की अपेक्षा अन्य कोई बड़ा काम नहीं है। जो कुछ पराक्रम मैं करता हूँ, वह प्राणियों के प्रति अपना ऋण चुकाने के लिये करता हूँ। मेरी कामना है कि मैं इस लोक में कुछ लोगों को सुखी करूँ तथा परलोक में उन्हें स्वर्ग का लाभ कराऊँ।

अशोक के उदात्त मनोभावों का परिचय उसके नीचे लिखे विचारों से मिलता है :—सब मनुष्य मेरे पुत्र हैं। मैं चाहता हूँ कि जिस प्रकार मेरे पुत्र-गण सब प्रकार के हित और सुख को प्राप्त करें उसी प्रकार सारी प्रजा ऐहिक और पारलौकिक सब प्रकार के हित और सुख का लाभ उठाये।

कवि सम्राट् कालिदास ने समृद्धिशाली लोगों के जीवन को आदर्श रूप देने के लिये विनय को सर्वप्रथम अलंकार माना है। उन्होंने कहा है :—

भवन्ति नम्रास्तरवः फलागमैः
नवाम्बुभिर्दूरविलम्बिनो घनाः।
अनुद्धताः सत्पुरुषाः समृद्धिभिः
स्वभाव एवैष परोपकारिणाम्॥

अर्थात् वृक्ष फलों के आने पर नम्र हो जाते हैं, बादल भी

जल के भार से झुक जाते हैं, सज्जन समृद्धिशाली होने पर विनयी हो जाते हैं; परोपकारी लोगों का स्वभाव ही यही है ।

आदर्श नागरिकों के स्वरूप का विशद चित्रण भर्तृहरि की नीचे लिखी पंक्ति में मिलता है :—

परगुणपरमाणून्पर्वती कृत्यनित्यं
निजहृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः ॥

नारी की प्रतिष्ठा

सिन्धु-सभ्यता के युग में स्त्रियों का पद प्रतिष्ठित रहा होगा। उनके विविध प्रकार के मनोरम वस्त्रों और आभूषणों को देख कर यह निश्चित सा प्रतीत होता है कि कुटुम्ब में सभी लोग उन्हें आदर की दृष्टि से देखते थे। उस समय की स्त्रियाँ संगीत और नृत्य की कलाओं में प्रवीण होती थीं। संभवतः पर्दे की प्रथा नहीं थी। स्त्रियाँ स्वतन्त्र रूप से पूजा-पाठ करने के लिए बाहर आ-जा सकती थीं।

भारतीय इतिहास में वैदिक काल में स्त्रियों को सबसे अधिक गौरवपूर्ण पद प्राप्त था। उस समय से धीरे-धीरे स्त्रियों का पद दिनोंदिन प्रायः गिरता ही गया। आधुनिक युग में एक बार और स्त्रियों को समुचित पद पर प्रतिष्ठित करने का सफल प्रयास किया जा रहा है।

विवाह के अवसर पर वैदिक काल में स्त्री अपने पति के साथ गृहस्वामिनी बनाई जाती थी। वैसे तो कुमारियाँ दान में दे दी जाती थीं या कभी-कभी बेची भी जाती थीं अथवा जुआरी लोग अपनी स्त्रियों को दाँव पर रख देते थे, पर समाज में इन कुरीतियों को निन्दनीय समझा जाता था।

पुत्रोत्पत्ति के लिए माता-पिता की स्वाभाविक इच्छा होने पर भी कुछ ऐसे लोगों के वर्णन वैदिक साहित्य में मिलते हैं,

जो विदुषी और योग्य कन्यायें प्राप्त करने के लिये विशेष प्रकार की यज्ञादि क्रियायें करते थे। कुमारियों और कुमारों के व्यक्तित्व के विकास में कोई अन्तर नहीं था। कुमारियाँ ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करती थीं और उनमें से कई वैदिक मन्त्रों की रचना भी करती थीं। उनका विवाह १६ वर्ष की अवस्था से पहले नहीं होता था। ऐसी कुमारियों का समाज में स्वतन्त्र व्यक्तित्व भी होता था और वे अपने विवाह के लिए जीवन-साथी स्वयं खोज लेती थीं। गन्धर्व-विवाह भी होते थे।

वैदिक काल में विधवा विवाह की प्रथा थी। विधवा को पुनर्विवाह या नियोग का अधिकार था। नियोग विधि से वह किसी प्रतिष्ठित सम्बन्धी से सन्तानोत्पत्ति करा सकती थी। ऐसी परिस्थिति में स्त्रियों को अपने पैतृक धन में अथवा पति की सम्पत्ति में कोई भाग न मिलने से भी उनके प्रतिष्ठित जीवन में किसी प्रकार की बाधा नहीं पड़ती थी।

वैदिक काल में स्त्रियों को अपने पति के साथ ही सभी प्रकार के यज्ञ और धार्मिक कृत्य करने का महत्त्वपूर्ण अधिकार प्राप्त था।

वैदिक काल के अन्तिम भाग में तपस्वी वर्ग का प्रादुर्भाव हुआ। उनके पवित्र जीवन में स्त्रियों के सहवास तथा सांसारिक भोग-विलासों को महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं मिल सका था। यह परिस्थिति स्त्री-जाति के निरादर का कारण हुई। उनका पद ऋग्वेद-काल जैसा ऊँचा नहीं रह गया। उनको जुआ और शराब जैसा माना गया, आपत्ति की मूर्ति समझा गया तथा शूद्रों से हीन पद दिया गया। कन्या तो विपत्ति मानी गई। यों तो यह विचार-धारा केवल तपस्वी-वर्ग तथा कुछ अन्य आध्यात्मिक

उन्नति चाहने वालों तक ही सीमित रही, पर इसका कुछ प्रभाव सारे समाज पर पड़ कर ही रहा।

उत्तर वैदिक काल में भी स्त्रियाँ विदुषी होती थीं। इनमें से कुछ तो दार्शनिक विवाद में पुरुषों से घट कर नहीं थीं। उपनिषद्-काल में बहुत सी स्त्रियाँ शिक्षक भी थीं। पर धीरे-धीरे स्त्री-शिक्षा कम होने लगी। उनके लिए नियम बना कि पढ़ने के लिए वे ऋषियों के आश्रम में दूर न जाकर पिता भाई या चाचा इत्यादि से घर पर ही शिक्षा प्राप्त करें। इससे यह नहीं समझ लेना चाहिये कि स्त्रियों के विद्यालय थे ही नहीं। स्त्री-शिक्षा के विद्यालय तो प्राचीन भारत में सदा ही चलते रहे।

महाभारत में स्त्रियों की निन्दा तो स्थान स्थान पर मिलती है, पर उनकी वास्तविक प्रशंसा से यह ग्रन्थ भरपूर है। इस ग्रन्थ के अनुसार स्त्री धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की जड़ है, सबसे बड़ा मित्र है, आनन्द में मित्र है, उत्सव में पिता के बराबर है, बीमारी में माँ के बराबर है। क्रोध होने पर भी पुरुष अपनी स्त्री को असन्तुष्ट न करे। जहाँ नारियों की पूजा होती है, वहाँ देवता रमण करते हैं, स्त्रियों के आदर, सम्मान और पूजन से सभी काम सफल होते हैं।

इस युग में स्त्रियों के वेद पढ़ने और यज्ञ करने पर प्रतिबंध लगा दिया गया। उनका विवाह-संस्कार भी १२, १३ वर्ष की अवस्था तक कर देने का विधान बना दिया गया। कन्याओं का उपनयन, जो वैदिक काल में सदैव होता आ रहा था, केवल नाम-मात्र के लिए विवाह-संस्कार के अवसर पर किया जाने लगा। लगभग २०० ई० में उपनयन संस्कार स्त्रियों के लिए वर्जित कर दिया गया और तर्क उपस्थित किया गया कि स्त्रियों का विवाह ही उपनयन है। फिर तो ९, १० वर्ष में ही

कन्याओं का विवाह भी होने लगा क्योंकि उपनयन के लिए भी यही समय नियत था। पिता १२ वर्ष से अधिक की कुमारी कन्या अपने घर पर रख ही नहीं सकता था। स्त्रियों की शिक्षा ऐसी परिस्थिति में हो ही नहीं सकती थी। महाभारत-काल तक तो विधवा-विवाह और नियोग की प्रथा का प्रचलन रहा, पर ५०० ई० के लगभग तक उनका सर्वथा लोप हो गया। इस समय बाल-विधवा या तो सती हो जाती थीं या जीवन भर दुःखमय जीवन बिताती थीं। स्त्रियाँ धीरे-धीरे असहाय हो गईं। शास्त्रकारों ने नियम बना दिया कि पति बुरा भी हो तो स्त्री उसकी पूजा करे। पुराणों ने ऐसी सेविकाओं को स्वर्ग में सर्वोच्च पद पाने की आशा से उत्साहित किया।

इस युग में स्त्रियों को पति की सम्पत्ति में भाग पाने का नियम पहले-पहल बना। जो स्त्रियाँ सती नहीं होती थीं, वे पति की सम्पत्ति का उपभोग कर सकती थीं। जातकों में कुछ ऐसी स्त्रियों के उल्लेख मिलते हैं, जिन्होंने पति की मृत्यु हो जाने पर राज-काज चलाया।

धीरे-धीरे कन्याओं के विवाह करने की अवस्था और कम होती गई। अन्त में निश्चित किया गया कि ८ वर्ष की कन्या का विवाह आदर्श है। क्षत्रिय कन्याओं का विवाह तब भी १४, १५ वर्ष की अवस्था में होता रहा। सती की प्रथा स्त्री-समाज के लिए आदर्श बनती गई। हाँ, कभी भी ऐसे शास्त्रकारों की कमी नहीं रही जिन्होंने इस प्रथा को दोषमयी बताया, पर उनकी बात सुनी नहीं गई। सती प्रथा यहाँ तक बढ़ी कि सती न बनने की इच्छा रखने वाली स्त्रियाँ भी बलात् जला दी जाती थीं।

इसी युग में पर्दा-प्रथा का भी प्रचलन हुआ। पर्दे का नियम

प्रायः राजकुल या धनी समाज में ही विशेष रूप से रहा। मुसलमानों के आने के पश्चात् पर्दा-प्रथा अधिक दृढ़ होती गई।

वैदिक कालीन समाज में स्त्रियों को जो स्थान प्राप्त था, वह धीरे-धीरे नहीं रहा। उस समय स्त्री और पुरुष या पुत्र और कन्या में भेद-भाव की भित्ति प्रायः अदृश्य सी ही थी। वैदिक काल के पश्चात् भी, जब स्त्रियों का पद नीचे गिर गया, उनकी प्रतिष्ठा में प्रायः कमी नहीं रही। कामसूत्र में स्त्रियों के विषय में कहा गया है कि वे कुसुम के समान हैं। सदा से गर्भवती और नववधू के लिए मार्ग छोड़ने की रीति चली आई है। स्त्रियों को मृत्यु-दण्ड दिया ही नहीं जा सकता था। प्राचीन साहित्य में चित्त को चंचल करने वाली, तपोमय पथ से डिगाने वाली और प्रेमियों को सन्तप्त करने वाली मोहिनी नारी को अवश्य ही बुरा-भला कहा गया है, पर नारी का यही एक मात्र रूप नहीं है। वे माता होकर सदैव पूजित रही हैं।

स्त्री का वध करना महापातक माना जाता था। असाधारण परिस्थितियों में यदि कभी राजा स्त्री को मृत्यु-दंड देता था तो उसे स्वयं प्रायश्चित्त करना पड़ता था। मनु के अनुसार स्त्री का वध करने वाला मनुष्य प्रायश्चित्त करने पर भी शुद्ध नहीं हो सकता था।

भारतीय समाज ने स्त्रियों को कुछ सुविधायें भी प्रदान की थीं। मार्ग पर उनके लिये स्थान बनाकर स्वयं हट जाना शिष्टाचार रहा है। समान अपराध या पाप करने पर स्त्रियों की शुद्धि पुरुषों की अपेक्षा केवल आधा ही प्रायश्चित्त करने पर हो सकती थी। स्त्रियों से कर भी नहीं लिया जाता था। अतिथियों को भोजन कराने के पहले ही कन्याओं और गर्भवती स्त्रियों को भोजन देने का विधान था। स्त्री-धन के उत्तराधिकार का

निर्णय करते समय कन्याओं की गणना पुत्रों की गणना से पहले ही होती थी।

दास-प्रथा

वैदिक काल में आरम्भ से ही दासों के उल्लेख मिलते हैं। वे साधारण सेवकों की भाँति कुटुम्ब में काम करते थे, पर उनका पद अन्य सेवकों से कुछ-कुछ भिन्न होता था। उनको वेतन नहीं देना पड़ता था, वे दान के रूप में दूसरों को दिये जा सकते थे अथवा आवश्यकता पड़ने पर बेचे जा सकते थे। वे अपने स्वामी का परित्याग उस समय तक नहीं कर सकते थे, जब तक स्वामी उनको मुक्त न कर दे। साधारणतः किसी भी जाति का मनुष्य दास बन सकता था, पर अपने से उच्चतर जाति का मनुष्य दास नहीं बनाया जा सकता था।

वैदिक काल में दास साधारणतः युद्ध में जीते हुए लोग ही होते थे। राजाओं के पास बहुत से दास-दासियाँ होती थीं। राजा प्रायः दास-दासियों को ऋषियों की सेवा करने के लिये देते थे। उसी समय से प्रायः सदा ही प्राचीन भारत में दास-प्रथा रही है।

इस देश में सदा ही दास-दासियों के साथ सद्व्यवार करने का नियम रहा है। आपस्तम्ब सूत्र में कहा गया है कि आवश्यकता पड़ने पर स्त्री-पुत्र आदि को भोजन न दे और न स्वयं खाये, पर दास को अवश्य खिलाये। मनु ने लिखा है कि पहले दास को भोजन कराना चाहिए, फिर बचे हुए भोजन को पत्नी के साथ खाना चाहिए।

दासों को स्वामी से मुक्ति भी मिल सकती थी। कौटिल्य ने लिखा है कि 'यथोचित धन चुकता कर देने पर खरीदे हुए, दंड

पाये हुए और युद्ध में पकड़े हुए दास मुक्त कर दिये जायँ। यदि स्वामी दास के साथ दुर्व्यवहार करता है, उससे हीन काम कराता है, कष्ट देता है, नंगा रखता है या पीटता है तो दास बिना मूल्य चुकाये भी स्वतन्त्र है।' नारद ने लिखा है कि यदि दास स्वामी की प्राण-रक्षा करे तो वह स्वतन्त्र हो जाता है और उसे स्वामी के धन से पुत्र की भाँति भाग मिलता है। अकाल पड़ने पर भोजन के लिये बने हुए दास दो गौ देकर स्वतन्त्र हो जाते हैं। जो भोजन के लिए ही दास बने हैं, वे भोजन न पाने पर स्वतन्त्र हैं। यदि आक्रमणकारी किसी मनुष्य को पकड़ कर बेच दें, तो वह दास राजा के द्वारा मुक्त कर दिया जाना चाहिए। नारद ने दास को मुक्त करने का विवरण इस प्रकार दिया है—यदि स्वामी दास से प्रसन्न होकर उसे मुक्त करना चाहे तो वह दास के कन्धे से जलपूर्ण कलश लेकर उसे फोड़ दे, दास के सिर पर पानी, फूल और धान के कण बिखेर दे और तीन बार कहे कि अब तुम स्वतन्त्र हो। स्वामी उसका मुँह पूर्व की ओर करके बिदा कर दे।

———

आर्थिक जीवन

उद्योग-धन्धे

जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्राचीन भारत में विविध प्रकार के उद्योग-धन्धे प्रचलित थे। वैसे तो सदा से ही असंख्य प्रकार के उद्योग-धन्धों में लोग लगे रहे हैं, पर प्रधान रूप से इस देश में कृषि, पशु-पालन और व्यापार मुख्य व्यवसाय रहे हैं।

कृषि का सर्वप्रथम परिचय सिन्धु-सभ्यता के अवशेषों से लगता है। मोहेन्जोदड़ो में आज से लगभग ५००० वर्ष पुराने, जो गेहूँ और जौ के दाने मिले हैं, उनसे निश्चित ज्ञात होता है कि उस समय खेती के काम में लोगों ने आश्चर्य-जनक उन्नति की थी। जो बैल उनके खेती के काम में आते थे, उनका अब भी जो मूर्त्त रूप मिला है, उसे देखकर ज्ञात होता है कि उस समय के लोगों का खेती के काम में पूरा उत्साह था और इस काम में उनका मन लगता था। ये लोग प्रधान रूप से गेहूँ, जौ और रूई की खेती करते थे।

वैदिक काल में आर्यों को खेती का बहुत अधिक चाव था। उनकी खेती का ढंग बहुत कुछ वैसा ही था, जैसा आज कल भी गाँवों में देखा जा सकता है। उनकी खेती में हल, फाल, जोते, हँसिया आदि का उपयोग होता था। उनकी जोताई, बोआई, सिंचाई, कटाई, पिटाई आजकल ही जैसी होती १

वैदिक काल के हलों में दो से अधिक बैल जोते जाते थे। काठक संहिता के अनुसार एक वार एक हल को २४ बैल भी खींचने में असमर्थ हो गये। उस समय अभागा ही दो बैलों का हल चलाता था। हल में दो से अधिक बैल जोतने की रीति प्रायः सदैव प्रचलित रही। पराशर ने लिखा है—

हलमष्टगवं धर्म्यं षड्गवं मध्यमं स्मृतम्।
चतुर्गवं नृशंसानां द्विगवं वृषघातिनाम्॥

(आठ बैलों का हल धार्मिक है, छः बैलों का मध्यम है, चार बैलों का हल नीच लोग चलाते हैं। केवल बैलों की हत्या करने वाले ही दो बैलों का हल चलाते हैं।) पद्मपुराण में ब्राह्मणों को खेती की विधि का निर्देश करते हुये बताया गया है कि उन्हें आधे दिन तक चार बैलों का हल जोतना चाहिए। चार के अभाव में तीन बैलों का हल भी जोता जा सकता है। जो दुर्बल, रोगी, अत्यन्त छोटी अवस्था के और बूढ़े बैल से काम लेकर उन्हें कष्ट पहुँचाता है, उसे गो-हत्या का पाप लगता है। इसी प्रकार वह मनुष्य भी पापी है, जो एक ओर दुर्बल और दूसरी ओर बलवान् बैल को लगाकर उनसे भूमि जुतवाता है। जो विना चारा खिलाये ही बैल को हल जोतने के काम में लगाता है, वह भी गो-हत्या के पाप का भागी है।

वैदिक काल में विविध प्रकार के अन्न—धान, जौ, गेहूँ, चना, माष, तिल, प्रियंगु, मूँग, मसूर, ईख इत्यादि उत्पन्न किये जाते थे। कपास की खेती भी होती थी। जाड़े और बरसात में दो फसलें बोई जाती थीं, उनके बोने और काटने का समय निश्चित था।

महाभारत-काल में खेती को विशेष रूप से राजकीय संरक्षण मिला। खेती वर्षा के भरोसे नहीं छोड़ी जाती थी। महाभारत में

भीष्म ने युधिष्ठिर को उपदेश दिया है कि जहाँ का दृश्य सुन्दर हो, जहाँ अन्न की उपज अधिक होती हो, जहाँ सब प्रकार के प्राणी निवास करते हों, वही भूमि जलाशय के लिये उत्तम है। राजा स्वयं पुण्य के लिये अनेक जलाशय बनवा देता था, किसानों की देख-भाल करता था और उनका सदा विश्वास करता था। जातकों में सामूहिक रूप से खेती करने का उल्लेख मिलता है। सब के खेत साथ ही जोते जाते थे। सभी लोग मिलकर सिंचाई के लिये सोते, जलाशय और नाले बनाते थे। गाँव का मुखिया सिंचाई की देख-रेख करता था। गाँव भर के खेतों की रक्षा के लिए एक ही बाड़ा बनता था। ग्रीक लेखक स्ट्रैबो ने भी ऐसी कृषि-पद्धति का उल्लेख किया है। वह लिखता है कि वर्ष के अन्त में प्रत्येक मनुष्य अपनी आवश्यकता के अनुसार अन्न ले लेता था। शेष अन्न जला दिया जाता था। ऐसा इसलिए किया जाता था कि कहीं लोग आलसी न हो जायँ और आवश्यकता न रहने पर काम करना छोड़ दें।

मौर्य-काल में राजा की ओर से सिंचाई का सुप्रबन्ध किया गया था। चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन-काल में ३१० ई० पू० में आधुनिक जूनागढ़ प्रान्त के गिरिनगर में ऊर्जवत् पर्वत की घाटी को बाँधकर एक बड़ी झील बनाई गई। २६० ई० पू० में अशोक ने सिंचाई के लिए उससे अनेक नहरें निकलवाईं। यह बाँध १५० ई० में टूट गया। पश्चिमी भारत के राजा रुद्रदामन् ने इसको फिर बनवाया। लगभग ३०० वर्षों के बाद यह बाँध एक वार और टूटा और ४५६ ई० में स्कन्दगुप्त ने इसको बनवाया। इस प्रकार के बाँध बनवाने का काम तथा अन्य सिंचाई के प्रबन्ध प्रायः सभी राजाओं ने किये।

ई० पू० २०० के लगभग की कृषि-सम्बन्धी उन्नति और महत्त्व की कल्पना महाभाष्य के इस वाक्य से की जा सकती है :—

अर्थवानयं देश उच्यते यस्मिन्गावः सस्यानि च वर्तन्ते। (वह देश अर्थवान् कहा जाता है, जहाँ गौ और सस्य विराजमान हों।)

मनु ने असावधानी के कारण खेती न करने वालों पर समुचित प्रतिबन्ध लगाने की व्यवस्था दी है। उस समय यदि कोई खेतिहर असावधान होता और अपने खेत को चर जाने देता अथवा उपज को किसी प्रकार भी नष्ट होने देता तो राजा उससे भूमिकर का दस गुना दण्ड-रूप में लेता था। उस समय सिंचाई के सुप्रबन्ध के लिए गाँवों की सीमाओं पर तडाग, उदपान, बावली और नहरों का प्रबन्ध था।

गुप्त-काल में राजा आदित्य सेन की स्त्री ने एक बड़ा जलाशय बनवाया। तत्कालीन भारतवासियों ने खेती को सबसे अधिक आकर्षक माना था। ब्रह्मपुराण में कहा गया है कि जिस राष्ट्र में किसान बहुत हों, परन्तु वे घमंडी न हों तथा जहाँ सब प्रकार के अन्न उत्पन्न होते हों। वहीं बुद्धिमान् मनुष्य को रहना चाहिये। भूमि सदा अन्न उपजाने वाली होनी चाहिये।

काश्मीर के राजा अवन्ति वर्मा के मन्त्री सूर्य ने बाढ़ आने पर झेलम के तट पर बाँध बनवाकर उससे नहरें निकलवाईं। उसने प्रत्येक ग्राम की भूमि की जाँच करवाई कि उसे कितने जल की आवश्यकता है और फिर उचित मात्रा में सिंचाई के लिए जल देकर खेती का ऐसा सुप्रबन्ध करवाया कि चावल का मूल्य पहिले से $\frac{1}{6}$ हो गया। कल्हण ने राजतरङ्गिणी में सूर्य की चतुरता का वर्णन करते हुए कहा है कि उसने नदियों को इस प्रकार नचाया, जैसे सँपेरा साँपों को नचाता है।

दसवीं शती में परमार वंशी राजा वाक्पति मुंज ने अनेक जलाशय खुदवाये। उनमें से मुंजसागर अब भी धारा नगरी के समीप उसकी कृति का स्मारक स्वरूप विराजमान है। इसी वंश के राजा भोज ने ११ वीं शती में भोजपुर के समीप एक बहुत बड़ी झील बनवाई, जो अपने युग में सर्वोत्तम गिनी गई। यह १५ वीं शती तक उस प्रदेश को अलंकृत करती थी। इसका सर्वनाश शाह हुसेन ने १५ वीं शती में कर दिया।

तामिल प्रदेश में नदियों का जल मुहाने के पास रोक कर उससे सिंचाई की जाती थी। सिंचाई के लिए करिकाल चोल ने १०० मील का बाँध कावेरी पर बँधवाया था। चोलों ने बहुत से कुयें और जलाशय भी बनवाये। इस वंश के राजेन्द्र प्रथम ने अपनी राजधानी के समीप एक झील बनवाई, जो कोलेरुन और वेल्लार नदियों के जल से भरी जाती थी। इस झील की चारों ओर की दीवाल ४ मील लम्बी थी। इसमें पत्थर के बने हुए नाले और नालियाँ बनाई गई थीं, जिससे सिंचाई का पानी बाहर आता था। दक्षिण भारत के पल्लव राजाओं ने भी खेती के लिए सिंचाई का प्रबन्ध किया। उन्होंने भी अनेक झीलों और जलाशयों का निर्माण कराया।

इस प्रथा को भारतीय यात्रियों ने लंका में भी चलाया। पराक्रम बाहु (११५० ई०) ने लंका में १४७० जलाशय और ५३४ नहरें बनवाईं और अनेक जलाशयों और नहरों की मरम्मत कराई।

भारतीय धर्मों में जलाशय और कूओं का बनवाना महान् पुण्य का साधन माना गया है। प्रायः सभी स्मृतियों और पुराणों में इनका निर्माण कराने वालों की प्रशंसा की गई है। इस धार्मिक व्यवस्था के कारण ही सदा से कुयें और जलाशय बनते

आये हैं। ये कहीं भठ न जायँ, इस उद्देश्य से भी एक उपयोगी धार्मिक व्यवस्था दी गई थी—पहले पाँच लोंदे मिट्टी निकाल कर ही पोखरे में स्नान करने के लिये प्रवेश करे। इस विधि से पोखरों और जलाशयों की गहराई अधिक वर्षों तक सम्भव रहती होगी। पद्मपुराण में नष्ट होते हुए जलाशय को पुनः खुदवा कर उसका उद्धार करने का काम सुख, शान्ति और स्वर्ग-प्राप्ति का कारण बताया गया है।

भारत ने खेती को सभी उद्योगों में प्रमुख स्थान दिया था। प्रायः सभी जातियों के लोग सदा से ही अन्न उपजाने का काम मुख्य रूप से तथा अन्य काम गौण रूप से करते थे। अबूजैद सैराफी ने लिखा है—कि वर्षा के दिनों में नाव नहीं चलते। भारतवासी उन दिनों खेती-बारी या अन्य कोई व्यवसाय करते हैं। इसी वर्षा पर उनका निर्वाह होता है। इसी ऋतु में चावल होता है, जो उनका भोजन है।

उद्यान

सिन्धु-सभ्यता के युग में लोग फलों से परिचित थे। अनुमान किया जाता है कि वे लोग खजूर, नींबू, नारियल और अनार के फलों को अपने उद्यानों में उपजाते थे। वैदिक काल में लोगों को फल खाने का चाव था। वन में बहुत से फल प्रकृति-प्रदत्त रूप में मिल जाते थे, पर उन जंगली वृक्षों के फलों से सन्तुष्ट न रह कर उन्होंने परिश्रम करके अच्छे फलों के वृक्षों को उपवनों में स्थान दिया। रामायण और महाभारत में विविध-प्रकार के उपवनों का वर्णन मिलता है। उस समय प्रत्येक नगर के समीप सार्वजनिक उपवन होता था। धनी लोगों के उपवन उनके घरों से सटे ही रहते थे।

जलाशयों में पद्मवन तैयार किये जाते थे। ऐसे पद्मवन उद्यानों के बीच में होते थे। बौद्ध काल में काशी के राजा के उद्यान की दीवाल १८ हाथ चौड़ी थी। उसमें कई स्थानों पर द्वार और अट्टालिकायें बनी हुई थीं। इस उद्यान में विविध प्रकार के वृक्ष लगे थे, जो फल और फूल से लदे थे। इस उद्यान के बीच एक पुष्करिणी थी, जिसमें पाँच प्रकार के कमल खिले हुए थे।

महाभारत के अनुसार वृक्ष लगाने वाले मनुष्य की इस लोक में कीर्ति बनी रहती है और मरने के पश्चात् उसे उत्तम फल की प्राप्ति होती है। इस ग्रन्थ में वृक्षों को, लगाने वाले व्यक्ति का पुत्र, माना गया है। उस समय लोगों की धारणा थी कि वृक्ष अपने पुष्पों से देवताओं को, फलों से पितरों को और छाया से अतिथियों को सन्तुष्ट करते हैं। महाभारतकार ने कहा है कि लौकिक और पारलौकिक कल्याण चाहने वाले व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह पोखरा खुदवा कर उसके किनारे अच्छे-अच्छे वृक्ष भी लगाये और उन वृक्षों को पुत्र के समान रक्षा करे।

उपवन लगाने की वैज्ञानिक विधि का उल्लेख अर्थशास्त्र में इस प्रकार मिलता है—वृक्ष लगाने के पहले गड्ढा खोदना चाहिए, उस गड्ढे को आग से जलाना चाहिए, फिर उसमें गाय की हड्डी और गोबर की खाद डालनी चाहिए और तब पौधा लगाना चाहिये। महाराज अशोक ने प्रजा के सुख के लिये असंख्य वृक्ष सड़कों के किनारे लगवाये।

गुप्तकाल में उपवनों का उपयोग सरस जीवन और मनोरंजन के लिये होता था। उनमें मनोरम प्राकृतिक छटा सर्वत्र विराजती थी और भाँति-भाँति की क्रीड़ाओं के लिये साधन प्रस्तुत किये जाते थे। उपवन के साथ ही जलक्रीड़ा के लिये पुष्करिणी होती

थी। प्रेमियों की क्रीडाओं के लिये क्रीडा-शैल बनता था। उपवनों में भाँति-भाँति के गाने वाले और मनोहर पक्षी पाले जाते थे।

उपवन का महत्त्व भारतीय जीवन में सदा बढ़ता गया। वृक्षों की बढ़वारी और स्वास्थ्य के लिये उनके रोगों का अन्वेषण और चिकित्सा का प्रबन्ध हुआ। वराहमिहिर (५०५ ई०) ने बृहत्संहिता के वृक्षायुर्वेद नामक अध्याय में वृक्षों के विकास और उनके रोगों के उपचार के उपाय बताये हैं।

पौराणिक काल में वृक्षों की पूजा होने लगी। मत्स्य पुराण में वृक्षोत्सव का महान् आयोजन करने की सीख दी गई है। पद्मपुराण में पीपल के वृक्षारोपण का अत्यन्त महत्त्व बताया गया है। पीपल का वृक्ष सरोवरों के चारों ओर लगाने की विधि दी गई है। इस पुराण के अनुसार रसों के क्रय-विक्रय के लिये नियत रमणीय स्थान पर, मार्ग में और जलाशय के किनारे वृक्ष लगाना चाहिये।

अरबी लेखकों ने भारतीय उद्यानों की बड़ी प्रशंसा की है। उनके लेखों में भारतीय नारियल, नींबू, आम और केले के सुन्दर और स्वादिष्ट फलों का वार-वार वर्णन मिलता है।

पशु-पालन

कृषि के साथ-साथ पशु-पालन का उद्योग सफलतापूर्वक चलता है। प्राचीन काल से ही भारतवासियों ने इन दोनों उद्योगों की पारस्परिक संगति देख कर सदा ही इनको अपनाया है। कृषि से केवल मनुष्यों का ही भोजन नहीं उत्पन्न होता, अपितु पशुओं का भी भोजन होता है। पशुओं में सबसे अधिक महिमाशाली बैल है। वह हल खींच कर खेती के काम में सहायता देता है। पशुओं के गोबर से खाद होती है। खाद ही खेती के पौधों का मुख्य भोजन है।

सिन्धु-सभ्यता के युग में लोग बैल, भैंस, भेड़, हाथी, कुत्ते और ऊँट पालते थे। तत्कालीन बैलों की मूर्तियों से यह निश्चित प्रतीत होता है कि वे लोग पशु-पालन-विज्ञान में परम प्रवीण थे। पशुओं को वे केवल पशु ही नहीं समझते थे, अपितु उनको मानव-जीवन के अत्यन्त सन्निकट मानते थे। वे पशुओं को पूज्य कोटि में गिनते थे और उन्होंने पशुओं को देवताओं का पार्श्ववर्ती माना था। अपनी कलात्मक कृतियों में पशुओं को स्थान देकर उन्होंने सिद्ध कर दिया है कि पशुओं के प्रति उनका प्रेम था।

वैदिक काल में प्रायः गाय, बैल, भैंसे, घोड़े, हाथी, ऊँट, गदहे बकरियाँ और भेड़ें पाली जाती थीं। उस समय राजाओं की अध्यक्षता में सहस्रों हाथी, घोड़े और गायें रखी जाती थीं। आर्थिक विकास के लिये आर्य गौवों को इतना आवश्यक मानते थे कि उनको देवता और अघ्न्य की पदवी दी गई। वे देवताओं से प्रार्थना करते थे कि गायों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती जाय और वे अधिक दूध दें।

पशुओं से मानवों का सम्बन्ध निकटतर होता गया। पशुओं के प्रति लोगों के वही भाव हो गये, जो परिवार के लोगों के साथ होते थे। गोवत्स के उत्पन्न होने पर उसकी माता के चाटने के पहले ही उसके ललाट को चाटना उसके लिये पुष्टिकारक माना गया। गोवत्स के जन्म के अवसर पर वैदिक मन्त्रों का पाठ होता था। गोशाला में प्रतिदिन सन्ध्या के समय गौओं को सुगन्धित द्रव्यों के गन्ध से आह्लादित किया जाता था।

महाभारत में नकुल तथा सहदेव के पशु-पालन की चर्चा की गई है। ये दोनों घोड़े और गौओं की शिक्षा और परिचर्या में

कुशल थे। तत्कालीन राजाओं के पास असंख्य गायें होती थीं। राजा विराट् की गायें एक लाख थीं। गोपालन का महत्त्व इतना अधिक था कि राजकुमार भी पशुओं की गणना करने तथा उनकी देख-भाल करने के लिए नियुक्त होते थे।

पशुओं की उपयोगिता तत्कालीन राजाओं के लिए बहुत अधिक थी। सेना में हाथियों और घोड़ों के अतिरिक्त बैलगाड़ी में जुतने के लिए बैलों की आवश्यकता पड़ती थी। ऐसी परिस्थिति में राजाओं के संरक्षण में पशु-पालन के विज्ञान की उन्नति हुई। अर्थशास्त्र में कौटिल्य ने तत्कालीन राजाश्रय में पाले हुए गौओं, घोड़ों और हाथियों आदि के संवर्धन का पूरा विवरण दिया है। इससे प्रतीत होता है कि तत्कालीन पशुओं का जीवन बहुत सुखी था। घोड़ों के विषय में जो कुछ उसने लिखा है, उससे ज्ञात होता है कि इनके भोजन में प्रधानतः चावल, जौ, चना, मूँग माष, तेल, नमक, मांस, दही और चीनी होती थी। बछेड़ों को पैदा होने के समय से लेकर दस दिनों तक मक्खन और आटा दिया जाता था। उनको छः मास तक दूध और चार वर्ष तक जौ खिलाते-पिलाते थे। घोड़ों को सुरक्षित और नीरोग रखने के लिए प्रबन्ध किया गया था। उनको किसी प्रकार की हानि पहुँचाने वाला व्यक्ति दण्डनीय था। वैद्य उनके स्वास्थ्य की चिन्ता करते थे। यदि औषधियों के दोष से या वैद्य की असावधानी से घोड़ों की बीमारी बढ़ जाती थी तो उनको दण्ड दिया जाता था। घोड़ों की सजावट सुरुचिपूर्ण नागरिकों की भाँति होती थी। उनको नहलाया जाता था, चन्दन से उनका शरीर चर्चित किया जाता था और दिन में दो बार उनको मालायें पहिनाई जाती थीं। इसी प्रकार अन्य पशुओं का भी संवर्धन होता था।

मनु ने व्यवस्था दी है कि गाँव के चारों ओर ४०० हाथ तथा नगर के चारों ओर १२०० हाथ चौड़ी भूमि छोड़ देनी चाहिए। इस भूमि का नाम परीहार था और यह पशुओं के चरने के लिए थी। मनु ने पशुओं की देखभाल करने वालों को सन्तोष जनक वेतन देने का विधान बनाया है और बताया है कि जो चरवाहा वेतन के रूप में दूध ही लेना चाहे वह स्वामी की आज्ञा से प्रत्येक दस गायों के समूह में सबसे अधिक दूध देने वाली गाय का दूध ले ले। चरवाहा दिन भर पशुओं के साथ रह कर उन्हें चराता था। सन्ध्या के समय पशुओं को चरवाहे स्वामी के घर ला देते थे। कभी-कभी रात्रि के समय भी पशु चरवाहों की देख-रेख में छोड़ दिये जाते थे।

गुप्तकालीन पशु-पालन का आदर्श कालिदास ने 'रघुवंश' में चित्रित किया है—'महाराज दिलीप स्वयं नन्दिनी नामक गाय की परिचर्या कर रहे हैं। प्रतिदिन बछड़े के पी लेने के पश्चात् उसको गन्ध और माला से रानी स्वयं सजाती हैं। राजा कोमल और स्वादिष्ट घास नोचकर गाय को खिलाते हैं, उसके शरीर को खुजलाते हैं और मच्छरों को भगा देते हैं। वह गाय, जिधर चाहती है, मनमाना चरती है, सन्ध्या हो जाने पर वसिष्ठ के आश्रम की ओर गाय लौटती है। रानी हाथ में अक्षत लेकर उसकी प्रदक्षिणा करती है, प्रणाम करती है और सींगों के मध्य-भाग का अर्चन करती है। रात्रि के समय उस गाय के निकट बलि और दीप रखे जाते हैं। गाय के सो जाने पर ही राजा सोते हैं। एक दिन जब गाय को सिंह पकड़ लेता है तो राजा गाय के बदले में अपना शरीर देकर गाय की रक्षा करने के लिये उद्यत हो जाते हैं।'

पौराणिक काल में पशुओं के प्रति सौहार्दमय व्यवहार होता

रहा। उस समय नियम बनाया गया कि प्रतिदिन बैलों को चोर और व्याघ्र आदि से रहित स्थान में, जहाँ घास काटी न गई हो, चराना चाहिये। उनको यथेष्ट घास खाने के लिए दी जानी चाहिये। बैलों के रहने के लिए ऐसी गोशाला होनी चाहिये, जहाँ किसी प्रकार का उपद्रव न हो। गोशाला को गोबर, मूत्र और बिखरी हुई घास आदि हटाकर सदा स्वच्छ रखना चाहिये। उस समय गोशाला को देवताओं का स्थान माना गया था। वहाँ कूड़ा फेंकने की मनाही थी। विद्वान् पुरुषों का कर्तव्य बतलाया गया है कि वे गोशाला को अपने शयन-गृह की भाँति स्वच्छ रखें, उसके धरातल को समतल बनायें तथा ऐसी व्यवस्था करें, जिससे वहाँ सर्दी, वायु और धूल से पशुओं को किसी प्रकार का कष्ट न हो। गौ को अपने प्राण के समान समझने की सीख दी गई है।

काम करने वाले पशुओं को छुट्टी भी मिलती थी। अमावस्या, संक्रान्ति तथा पूर्णिमा को हल जोतना मना था। इन तिथियों को पशुओं के शरीर में श्वेत और रंग-विरंगी रचना करके काजल, पुष्प और तेल के द्वारा उनकी पूजा करना पुण्यकारक माना गया था।

व्यापार

नवीन प्रस्तर युग से ही बहुमूल्य वस्तुओं को एक दूसरे से प्राप्त करने के लिये योरप और एशिया का व्यापार चला आ रहा है। उस समय भी लोग बहुमूल्य धातुओं, रत्नों और मोतियों की खोज में सहस्रों मील की यात्रा करते थे। संभवतः नवीन प्रस्तर युग के व्यापारी-विदेशियों ने ताम्रपर्णी नदी के तट पर अपनी वसति बसाई थी। यह नदी मोतियों के लिए प्रसिद्ध रही है। यहाँ आस-पास सोना भी मिलता था।

सिन्धु-सभ्यता के लोगों ने केवल भारत के विभिन्न प्रदेशों में ही अपने व्यापार का प्रसार नहीं किया, अपितु भारत के बाहर विदेशों से भी वे व्यापार करते थे। वहाँ की मुद्रायें संभवतः व्यापार करने में काम में आती होंगी। वे भारत के बाहर से टिन, ताँबा और बहुमूल्य रत्न मँगाते थे। सिन्धु-सभ्यता की समकालीन सभ्यतायें मिश्र और मेसोपोटामिया में भी पाई जाती हैं। भारत, मिश्र और मेसोपोटामिया में पाई जाने वाली तत्कालीन वस्तुओं से ज्ञात होता है कि इन सभी देशों में व्यापारिक आदान-प्रदान होता था। सिन्धु-सभ्यता के लोग नावों का भी उपयोग करते थे।

वैदिक काल में पणि नामक व्यापारी जाति का उल्लेख मिलता है। संभवतः उनकी आर्यों से नहीं पटती थी। उस समय नदियों के आर-पार जाने के लिये नावों का उपयोग होता था। वेदों में सामुद्रिक नावों का उल्लेख भी मिलता है। संभव है, वे समुद्रों में चलने वाली नावें हों या बड़ी-बड़ी नदियों में ही चलती हों। बड़ी नदियों को भी समुद्र कहते हैं। इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि उनकी नावें बहुत बड़ी थीं और उसमें सौ पतवार तक लगाये जाते थे। नावों के अतिरिक्त उस समय रथ और गाड़ियों से भी व्यापार होता था। रथों में घोड़े जुतते थे और गाड़ियाँ बैलों से खींची जाती थीं। जंगलों के बीच से मार्ग बनाने के लिये संभवतः अग्नि से वृक्षों को जला दिया जाता था। अग्नि का एक नाम तत्कालीन साहित्य में 'पथकृत्' भी मिलता है।

व्यापार विशेषतः वस्तुओं के ही लेन-देन से होता था। मुद्राओं का प्रचलन कम था। मुद्रा की इकाई गाय थी। गाय को ही उस युग का सिक्का माना जा सकता है। निष्क नामक

सोने का टुकड़ा भी मुद्रा के रूप में प्रचलित था। क्रय-विक्रय प्रायः वस्त्र, चादर, चर्म और सोम का होता था।

वैदिक युग के अन्तिम भाग में आर्यों का किरातों से व्यापार बढ़ चला। किरात प्रायः पर्वतों और वनों में रहते थे। उनकी औषधियाँ आर्यों के समाज में बिकती थीं। निष्क, शतमान और कृष्णल नामक मुद्राओं का प्रचलन हुआ। व्यापारियों के संघ बनने लगे। वैश्य जाति ने मुख्य रूप से वाणिज्य का काम अपनाया।

ई० पू० ८वीं शती से लेकर लगभग चौथी शती ई० पू० तक स्वर्ण भूमि (बर्मा और मलाया आदि), ताम्रपर्णी (लंका) और बावेरु (बेबीलोन), चीन, मिश्र आदि से व्यापारिक सम्बन्ध बढ़ा। भारतीय नदियों से प्रादेशिक व्यापार के लिये सहजाति (मध्य भारत), कौशाम्बी (यमुना के तट पर), बनारस, अयोध्या. चम्पा (भागलपुर के समीप), पाटलिपुत्र (पटना) और पत्तल (सिन्धु नदी के तीर पर) प्रमुख नौस्थान थे। समुद्री तटों पर भृगुकच्छ (भड़ौंच), शूर्पारक (बम्बई के उत्तर सोपर) आदि प्रमुख नौस्थान थे। ये जल-मार्ग थे।

स्थल-मार्ग से व्यापार की अच्छी सुविधा थी। एक सड़क गंगा की घाटियों के प्रमुख नगरों से होती हुई तक्षशिला जाती थी और वहाँ से सड़क मध्य एशिया और पश्चिमी एशिया तक गई थी। दूसरी सड़क दक्षिणी विहार के राजगृह नगर से श्रावस्ती और वहाँ से गोदावरी तट तक गई थी। तीसरी सड़क राजपुताना के मरुभूमि से होती हुई सिन्ध नदी की घाटी तक जाती थी और वहाँ से नर्मदा नदी के मुहाने तक गई थी। इन मार्गों में यात्री और व्यापारियों का पथ-प्रदर्शन ताराओं को देखकर दिशा-ज्ञान करने वाले लोग किया करते थे।

एक भारतीय नाविक का उल्लेख योरपीय साहित्य में मिलता है, जो चौथी शती ई० पू० में जर्मनी और इंगलैंड के बीच अपनी नाव ले गया था, पर दुर्भाग्यवश वहाँ तूफान में फँस गया। ऐसे और भी भारतीय नाविकों के उल्लेख योरप और मिश्र के प्राचीन साहित्य में मिलते हैं, जो ईसवी शती से पूर्व उधर गये थे।

मौर्यकाल में भारत का मिश्र, सीरिया और ग्रीक राज्यों से व्यापारिक सम्बन्ध था। मौर्य राजाओं के जल-यान विभाग की ओर से बहुत सी नावें बनती थीं और किराये पर भी चलती थीं।

उपर्युक्त काल में व्यापार की मुख्य वस्तुएँ रेशम, मलमल, बेल-बूटे का काम, लकड़ी, पशु, हाथी-दाँत का काम, रत्न और सोना आदि थीं।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र से तत्कालीन व्यापार का पूरा परिचय मिलता है। वह लिखता है कि उत्तर भारत कम्बल, घोड़े और चमड़े के लिये तथा दक्षिण भारत शंख, रत्न, हीरे, बहुमूल्य पत्थर, मोती और सोने के लिये अच्छे व्यापारिक क्षेत्र हैं। जो व्यापारी नाप-तोल में गड़बड़ी करते थे, उन्हें दण्ड दिया जाता था। पण्याध्यक्ष, जो राजा की ओर से नियुक्त किया जाता था, प्रजा की वस्तुओं के क्रय-विक्रय का भी प्रबन्ध करता था।

ई० पू० पहली शती में भारत और रोम राज्य का सम्बन्ध स्थापित हो चुका था। योरप के लोग भारत की भोग-विलास की वस्तुओं को बहुत चाव से मँगाते थे। पहली शती में हिप्पालस ने भारत से योरप जाने का सरलतम सामुद्रिक मार्ग

ढूँढ़ निकाला। पहली शती के अन्तिम भाग में मिश्र देश में रहने वाले एक ग्रीक नाविक ने लाल सागर और अरब सागर से होते हुए भारत के समुद्री तट की यात्रा की। उसने 'एरिथ्रियन सागर का परिभ्रमण' नामक पुस्तक में इस यात्रा का वर्णन किया है।

ऊपर जिस व्यापार का उल्लेख किया गया है, उसके द्वारा भारत योरप की सोने की मुद्राओं से भरने लगा।

पहली ईसवी शती में अफ्रीका के किनारे कई द्वीपों में भारतवासियों ने अपना व्यापारिक उपनिवेश बनाया। ऐसा एक उपनिवेश सकोत्रा द्वीप में था। पश्चिमी देशों में भारत से मसाले, गंध, सूती कपड़े, रेशम, मलमल, हाथी-दाँत, कछुए की पीठ, मिट्टी के बर्त्तन, मोती, हीरा, जवाहिर, चमड़ा, दवा आदि जाते थे। उन देशों से भारत में कपड़ा, दवा, शीशे के बर्त्तन, सोना, चाँदी, ताँबा, टिन, सीसा और जवाहर आते थे। पहली शती ईसवी के ग्रीक लेखक प्लीनी ने लिखा है कि इस व्यापार से भारत को बहुत लाभ होता है और रोम-साम्राज्य का बहुत अधिक धन भारत जाता है। उस समय चोल प्रदेश में कावेरी-पट्टम्, तोंडी और पुहार समुद्री व्यापार के बड़े केन्द्र थे। अफ्रीका में सिकन्दरिया व्यापार का महान् केन्द्र था। लाल सागर तक जो सामान पहुँचता था, वह वहीं इकट्ठा होता था और वहाँ से योरप और अफ्रीका के देशों में भेजा जाता था।

पूर्वी देशों के साथ भी व्यापार बढ़ता रहा। बंगाल की खाड़ी से नाव पूर्वी द्वीप समूह और चीन तक जाती थी। पूर्वी द्वीप समूह में मसाले की उपज बहुत अधिक थी। दूसरी शती ई० में टालेमी ने मलाया, जावा और सुमात्रा आदि के व्यापारिक केन्द्रों का उल्लेख किया है। टालेमी ने लिखा है कि

पलुरा' (गंजाम के समीप नौका-स्थान) से सीधा समुद्री मार्ग मलाया जाने के लिए प्रचलित था। भारतीय साहित्य में उन वीर और उत्साही व्यापारियों तथा क्षत्रिय कुमारों की कथायें भरी पड़ी हैं, जो सुदूर प्राचीन काल में प्राणों को संशय में डाल कर अपने भाग्य का निर्णय करने के लिये इन द्वीपों की ओर चल पड़े थे। उन्होंने वहाँ पर व्यापारिक केन्द्र तथा साम्राज्य की स्थापना की। इन्हीं लोगों के साथ ही भारतीय संस्कृति भी उन देशों में जा पहुँची।

सातवीं शती से योरप में अरबों का प्रभुत्व हो जाने के पश्चात् भारत का पश्चिमी देशों से व्यापारिक सम्बन्ध अरबों के माध्यम से होने लगा। अरब स्वयं बड़े कुशल नाविक थे। वे अरब से चल कर भारतीय समुद्री तट से होते हुए पूर्वी द्वीप समूह और चीन तक पहुँचते थे। सातवीं शती में फारस की खाड़ी में उबला का प्रसिद्ध नौकास्थान इराक में बसरे के पास था। उस समय निकटवर्ती देशों से भारत का व्यापारिक सम्बन्ध बहुत बढ़ा हुआ था। उबला भारत का ही एक टुकड़ा गिना जाता था। चीन और भारत से आने वाले जलयान यहीं ठहरते थे और यहीं से चलते थे। भारतीय व्यापारिक उन्नति की कल्पना एक अरब यात्री के नीचे लिखे वर्णन से हो सकती है। उसने हजरत उमर को भारत का विवरण देते हुए कहा— भारत की नदियाँ मोती हैं, पर्वत लाल हैं और वृक्ष इत्र हैं। हजरत उमर ने उबला पर अपना अधिकार कर लिया। तब से लेकर लगभग २५० वर्षों तक यह नौकास्थान अरबों के हाथ में दिन-प्रतिदिन उन्नति करता रहा। सातवीं शती के मध्य भाग में इराक में अरबों ने बसरा का नौकास्थान भी बनवाया। बसरा भी भारत आने-जाने का प्रसिद्ध केन्द्र बन गया।

जल-थल में दौड़ते फिरते हैं। यहूदी दास, रेशमी कपड़े, समूर, पोस्तीन और तलवार बेंचते हैं। ये फिरंगिस्तान से सवार होकर रूमसागर के मिश्र वाले तट पर आते हैं और स्थल पर उतर कर व्यापार की सामग्री पशुओं की पीठ पर लाद कर लाल सागर लाते हैं; वहाँ से फिर जहाज पर बैठकर जद्दा आते हैं और जद्दा से सिन्ध, भारत और चीन जाते हैं। इसी मार्ग से वे लौटते भी हैं। यहूदियों का दूसरा मार्ग रूम-सागर से नाव से शाम, फिर थल-मार्ग से इराक और वहाँ से फरात की नहर में नाव से बगदाद आने का है। वे बगदाद से दजला नदी में नाव पर यात्रा करते हुए उबला पहुँचते हैं। उबला से वे उमान, सिन्ध, भारत और चीन जाते हैं।

इब्न खुर्दाजबा ने लिखा है कि रूसी जाति के लोग भी भारत और चीन तक जल-थल के मार्ग से आते-जाते हैं। इसी समय काबुल और गजनी में भी भारतीय व्यापारिक मंडियाँ थीं।

नवीं शती के एक अरब यात्री ने इस बात का विवेचन किया है कि सैराफ के जलयान भारत की ओर तो जाते हैं पर मिश्र की ओर नहीं जाते। उसने कहा है—'भारत के पानी में मोती होता है, पर्वतों में हीरे होते हैं और सोने की खाने हैं, जानवरों के मुँह में हाथी-दाँत हैं, भूमि से आबनूस, बेंत, ऊद, कपूर, लौंग, जायफल, बक्कम, चन्दन और सब प्रकार के सुगन्धित द्रव्य होते हैं, पक्षियों में तोते और मोर होते हैं और कस्तूरी होती है।' ऊपर लिखी हुई इन्हीं वस्तुओं के लिये व्यापारी आते थे। नवीं शती के दूसरे अरबी लेखक इब्न खुर्दाजबा ने भारत से दूसरे देशों में जाने वाली वस्तुओं का नाम इस प्रकार गिनाया है—सुगन्धित लकड़ियाँ, चन्दन, कपूर, लौंग, जायफल,

कबाब चीनी, नारियल, सन के कपड़े, रूई के मखमली कपड़े, हाथी-दाँत, सीसा, बक्कम, कुट, बाँस और बेंत। दशवीं शती के लेखक मसऊदी ने भारत से बाहर जाने वाले जूतों की सुन्दरता की प्रशंसा की है। दशवीं शती के दूसरे अरबी लेखक मुसइर बिन मुहलहिल ने दक्षिण भारत का परिभ्रमण किया। उसने ट्रावनकोर के उद्योग-धन्धों का वर्णन करते हुए लिखा है—'यहाँ पर वे मिट्टी के बर्त्तन बनते हैं, जो हमारे देश में चीनी बर्त्तनों के नाम से बिकते हैं। यहाँ सागौन की लकड़ी सौ हाथ लम्बी होती है। इसके अतिरिक्त बक्कम, बेंत और नेजे की लकड़ी भी बहुत होती है। रेवन्द चीनी और तेजपत्ता भी होता है। व्यापारी लोग ऊद, कपूर और लोबान भी यहाँ से ले जाते हैं।' आठवीं शती के अरबी लेखक सुलेमान ने भारतीय वस्त्रों के विषय में लिखा है—'यहाँ जैसे कपड़े बुने जाते हैं, वैसे और कहीं नहीं बुने जाते। कपड़े इतने महीन होते हैं कि थान का थान एक अँगूठी में आ सकता है।' अरबी व्यापारी भारत से गैंडों के सींग चीन ले जाते थे। सींगों पर चित्र बनाये जाते थे। भारतीय गन्ध-बिलाव के पसीने का व्यापार भी अरबी लोगों ने बढ़ाया। वे उस सुगन्धित द्रव्य को मोरक्को ले जाते थे। काला नमक भी भारत से बाहर जाता था।

नवीं शती में मिश्र से पन्ने की अँगूठी भारत आती थी। मूँगा भी विदेशों से आता था। रोम से रेशमी कपड़े, समूर, पोस्तीन और तलवारें आती थीं। फारस के गुलाब-जल की भारत में बहुत माँग थी। बसरे से सिन्ध में खजूरें और अरब से कारोमण्डल में अरबी घोड़े आते थे।

मुद्रायें

व्यापार की चर्चा करते समय मुद्राओं का उल्लेख हो चुका

है। वैदिक काल में निष्क, शतमान और कृष्णल आदि मुद्राओं का प्रचलन हो चुका था। वैदिक काल के पश्चात् नये-नये सिक्के चले। सातवीं शती ई० पू० के लगभग कार्षापण, निष्क, पण, पाद, माष और शाण आदि सिक्कों का व्यापार में उपयोग होने लगा था। मौर्य काल में राजा की ओर से सिक्कों के बनाने का काम होने लगा।

प्राचीन सिक्कों पर कोई लेख या राजा का नाम नहीं लिखा जाता था, उनका केवल तोल ही निश्चित रहता था। उन पर मनुष्य, पशु, पक्षी, सूर्य, चन्द्र, धनुष, बाण, स्तूप, बोधिवृक्ष, स्वस्तिक, वज्र, नदी, पर्वत आदि की प्रतिकृति होती थी। ये सब मुद्रायें सोने, चाँदी और ताँबे की होती थीं। कौटिल्य के समय में मुद्रायें एक पण, आधे पण, चौथाई पण और पण के आठवें भाग होती थीं। ताँबे के बने हुए सिक्के माषक, आधे माषक, काकणी और आधी काकणी थे।

सबसे पहले प्राचीन लेख वाले मालव जाति के सिक्के ई० पू० तीसरी शती के मिलते हैं। इनके पश्चात् ग्रीक, शक, कुषाण और क्षत्रपों के सिक्के मिलते हैं। भारत में रोम-साम्राज्य के सिक्के भी व्यापार के माध्यम से आते थे और उनका सार्वजनिक लेन-देन में उपयोग होता था।

गुप्त काल में विविध प्रकार के सिक्कों का प्रचलन हुआ। इन सिक्कों पर विदेशी सिक्कों की भाँति राजा की मूर्ति अङ्कित है। ह्वेनसांग के समय में मोती का उपयोग भी क्रय-विक्रय के माध्यम के रूप में होता था। उस समय साधारणतः सोने और चाँदी के सिक्के चलते थे। कौड़ियाँ भी सिक्कों की भाँति काम में आती थीं।

छठी शती में हूणों ने भारत में ईरानी सिक्कों का प्रचार किया। सातवीं शती के पश्चात् के राजाओं के बहुत से सिक्के मिलते हैं, पर उनमें से केवल कुछ सिक्कों पर ही राजाओं की प्रतिकृति है। संभवतः प्राचीन काल में राजाओं के अतिरिक्त व्यापारिक संघ भी अपने सिक्के चला सकते थे। रानियाँ भी अपने नाम के सिक्के चला सकती थीं। अजमेर के चौहान राजा अजय देव की रानी सोमल देवी ने अपने नाम के सिक्के चलाये थे। प्रसिद्ध राजा भोज ने आदिवराह का सिक्का चलाया। इस पर पृथ्वी के उद्धार का दृश्य अंकित है। भारत में नीचे लिखे राजवंशों के सिक्के प्रायः मिलते हैं—कुषाण, गुप्त, आहोम, परमार, चालुक्य, चोल, पल्लव, पांड्य, केरल और चन्देल।

अन्य व्यवसाय

खेती, पशु-पालन और व्यापार—इन तीन व्यवसायों में भारत की अधिकांश जनसंख्या लगी रही। ये तो लोगों के प्रधान उद्योग थे। इनके साथ ही साथ कुछ गौण उद्योग भी थे। जैसा कि हमने भारतीय व्यापार का विवेचन किया है, भारत में विविध प्रकार के छोटे-बड़े व्यवसाय प्राचीन काल से ही चले आ रहे हैं। इन व्यवसायों से जिन वस्तुओं का उत्पादन होता था, वे देश-विदेश में व्यापारियों के द्वारा बेंची जाती थीं। भारतीय रहन-सहन सदा उच्च कोटि की रही है। ऐसे जीवन में विविध प्रकार की सामग्रियों की आवश्यकता रहा करती थी, जिनके उत्पादन के लिए विविध प्रकार के उद्योग-धन्धे चला करते थे।

व्यावसायिक संघ

उद्योग-धन्धों की प्रगति के लिये व्यावसायिक संघों का प्रचलन वैदिक काल में हुआ। उस समय विभिन्न गोत्रों के लोगों की गायें अलग-अलग चरा करती थीं। महाभारत में सैनिकों, व्यावसायिकों और व्यापारियों के संघों के उल्लेख हैं। बौद्ध और जैन साहित्य में संघ-प्रणाली के पूर्ण विकास का परिचय मिलता है। विभिन्न व्यवसायों के लोगों के गाँव बसे हुए थे। ये लोग अपनी बनाई हुई वस्तुओं को उचित मूल्य पर बेचने के लिए संघ बना लेते थे। संघों का अपना शासन-तन्त्र भी था। राजा भी संघों के निर्माण और प्रगति में सहायता देता था।

रहन-सहन

भारतीय रहन-सहन में सदा से विविधता रही है। भोजन, पान, वस्त्र, अलंकार आदि की दृष्टि से यदि एक वर्ग भोग-विलास की चरम सीमा पर था तो दूसरा वर्ग केवल जीवन-धारण मात्र के लिये यथावश्यक मात्रा में ही उनका प्रयोग करता था। इसके साथ ही ऋषियों के तपोमय जीवन में तथा जैन मुनियों के परीषह में निराहार रहना, दिगम्बर रहना अथवा केवल वल्कल धारण करना आदि साधारण सी बातें रही हैं।

भोजन

संस्कृति के आदिकाल के लोगों की रहन-सहन की कल्पना आधुनिक युग के पशु-पक्षियों के जीवन से भली भाँति की जा सकती है। उस समय का जीवन पूर्णरूप से प्राकृतिक कहा जा सकता है। लोग आग का प्रयोग नहीं जानते थे। वे प्रति-दिन के अनुभवों के आधार पर अथवा अन्य पशु-पक्षियों की

देखा-देखी दूध, फल, मूल, मधु, वन में उपजे हुये अन्न और मांस खाते थे।

सिन्धु-सभ्यता के युग में लोग गेहूँ और जौ की रोटी, दूध, मांस, मछली, अंडे और फलों का भोजन करते थे। वे शाक, भाजी, खजूर, तिल और तरबूज भी भोजन के लिये उपजाते थे। लोग पशु-पालन में प्रवीण थे और उनको दूध और घी पर्याप्त मात्रा में मिल जाता होगा।

वैदिक काल में भी प्रायः यही भोजन रहा। लोग उस समय पक्ति (रोटी), पुरोडाश, अपूप, और करंभ या यवागु पका कर खाते थे। वे चावल के साथ दूध, मूँग या तिल मिलाकर भात पकाते थे। भोजन के साथ मधु खाने का साधारण प्रचलन था।

महाभारत में चावल, गेहूँ और ज्वार साधारण अन्न थे। भात में मांस मिलाकर खाने की रीति थी। धनवान् लोगों के भोजन में मांस, मध्यम वर्ग के लोगों के भोजन में दूध-घी और दीन-हीन लोगों के भोजन में तेल की प्रधानता थी। सत्तू की उपयोगिता महाभारत में विशेष रूप से कही गई है। अपूप, राग-खाण्डव और मोदक नाम की मिठाइयाँ बनती थीं। जातकों के अनुसार यवागु लोकप्रिय भोजन प्रतीत होता है। बौद्ध काल में उड़द और मूँग की दालें, श्यामाक, चिंगूलक और चीनक आदि के चावल साधारण अन्न थे। अर्थशास्त्र में कोदों, धान, वरक, प्रियंगु (बाजरा), मूँग, जौ, गेहूँ, माष, मसूर, शिम्बि आदि साधारण भोज्य अन्न बताये गये हैं।

मांस-भोजन भारत में सदा प्रचलित रहा है, पर वह वैदिक काल में प्रायः यज्ञों के लिये अथवा अतिथि के सत्कार के

लिए सीमित था। इतना तो निश्चित ही है कि ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम में मांस खाने का पूर्ण रूप से निषेध है। केवल गृहस्थाश्रम में लोग मांस खा सकते थे। वैदिक काल से ही बौद्ध काल तक बैल या गाय के मांस-भक्षण का प्रचलन रहा है। जातकों में प्रायः मछली और भात के भोजन का उल्लेख मिलता है। मांस को सुदूर भविष्य में खाने के योग्य बनाने के लिये उसे सुखाने की विधि भी प्रचलित थी। सुखाये हुए मांस का नाम वल्लूर था। आश्वलायन के अनुसार अतिथि का स्वागत करते समय मधुपर्क में मांस होना ही चाहिये।

मांस-भोजन का इतना प्रचार होने पर भी इसके परित्याग के लक्षण वैदिक काल में ही मिलते हैं। ऋग्वेद में पवित्र मन से दी हुई आहुति, समिधा और स्तुतियों का महत्त्व निर्मांस होने पर भी किसी प्रकार कम नहीं माना गया है। शुद्ध मन से कही हुई स्तुतियाँ ही यज्ञ में वध किये जाने वाले बैल और गायों की भाँति फल देने वाली मानी गई हैं। शतपथ ब्राह्मण में बताया गया है कि जिसका मांस तुम खाते हो, वही भविष्य में तुम्हारा मांस खायेगा।

धीरे-धीरे वैदिक यज्ञों का प्रचलन घटा और वेदों में बताये हुये यज्ञों के द्वारा प्राप्य स्वर्ग के स्थान पर उपनिषदों की मुक्ति को तप के द्वारा ही लभ्य माना गया। तप जीवन की शुद्धि है। तपस्वी के लिये मांस-भोजन का निषेध था। सारे समाज ने इन्हीं के आदर्श को अपना लिया।

महाभारत के अनुशासन-पर्व में युधिष्ठिर के पूछने पर भीष्म ने बताया है कि जो सुन्दरता, दीर्घ आयु, असीम शक्ति, तीव्र बुद्धि और स्मरण शक्ति चाहता है, उसे हिंसा से बचना चाहिये। मांस और मदिरा से बचना वैसा ही पुण्यकारक है,

जैसे प्रतिमास अश्वमेध का सम्पदान। बौद्ध और जैन धर्म के आचार्यों ने भी भोजन की शुद्धि के लिए प्रचार किया। महाराज अशोक ने पशु-वध बन्द करने के लिये राजकीय नियम बनाये और अपनी भोजन-शाला में मांस-भोजन का निषेध किया।

गुप्त कालीन चीनी यात्री फाह्यान ने लिखा है कि लोग प्रायः शाकाहारी हैं। उस समय साधुओं का भोजन चावल, दही और घी था। साधारण लोग गेहूँ और जौ से ही सन्तुष्ट रहते थे। गुडविकार और मत्स्यण्डिका नाम की मिठाइयाँ बनती थीं। दूध से मक्खन और घी निकाला जाता था। उत्सवों के अवसर पर पयश्चरु, मोदक, और शिखरिणी नाम के विशेष भोजन बनते थे। नमक, मरीच, लवंग, एलालता आदि मसालों से भोजन स्वादिष्ट बनाया जाता था।

सातवीं शती के चीनी यात्री ह्वेनसांग ने लिखा है कि सबसे अधिक उपयोगी भोज्य दूध, मक्खन और मलाई है। कोमल शक्कर, मिश्री, सरसों का तेल और अन्न से बने अनेक प्रकार के भोजन खाये जाते हैं।

पेय

दूध सदा ही भारत का लोकप्रिय पेय रहा है। वैदिक काल में दूध के समान ही सोम-रस का पान भी किया जाता था। सोम-रस एक वल्ली का रस होता था। सोम-वल्ली को पहले पीसा जाता था, फिर उसे छान कर दूध मिलाया जाता था। इस प्रकार जो रस बनता था, वह स्वास्थ्य और बुद्धिवर्धक था। कुछ लोग सुरा-पान भी करते थे। मांस भोजन के साथ ही इसका भी निषेध हुआ। काण्वसंहिता के अनुसार क्षत्रिय तो सुरापान कर सकते थे, पर ब्राह्मणों के लिये उसे निश्चित रूप से हानि-

कर बताया गया है। छान्दोग्य उपनिषद् में सुरा पीने वाले को पतित माना गया है। महाभारत के अनुसार शुक्राचार्य ने नियम बनाया कि ब्राह्मणों को सुरापान नहीं करना चाहिये। यों तो सभी धर्मशास्त्रकारों ने सुरापान की भूरिभूरि निन्दा की है, फिर भी वह युद्ध करने वाले क्षत्रियों और शूद्रों के द्वारा कभी छोड़ा न जा सका। अनेक प्रकार की सुराओं का बनना सदा ही प्रचलित रहा। फिर भी उच्च व्यक्तित्व के लोग, जो अपना अभ्युदय चाहते थे, कभी भी सुरापान नहीं करते थे।

सोम और सुरा निश्चित रूप से अलग-अलग हैं। इन दोनों का अन्तर बताते हुये शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है, 'सोमरस सत्य, अभ्युदय और प्रकाश है तथा सुरा असत्य, पतन और अन्धकार है।'

भोजन-विधि

संभवतः सिन्धु-सभ्यता के धनी लोग चौकियों पर भोजन करते होंगे। भारतीय धर्म-शास्त्रों के अनुसार पवित्र और मन को प्रसन्न करने वाले स्थान में आसन पर बैठ कर स्वस्थ चित्त से भोजन करना चाहिए। गृहस्थ को पहले स्नान और पंच महायज्ञ करने चाहिये और अपने आश्रित जनों को भोजन देकर ही खाना चाहिए।

भोजन करते समय मौन रहना सबसे अच्छा है। प्रायः लोग दिन में केवल दो बार भोजन करते थे—दिन में दोपहर के समय और रात्रि में एक पहर बीतने पर। सूत्रों में इन दो बार के भोजनों के बीच में कुछ मूल और फल-फूल खाने के विधान का उल्लेख मिलता है। वैदिक काल में भोजन के लिए दोपहर तक प्रतीक्षा नहीं की जाती थी। प्रातःकाल ही भोजन कर लिया जाता था।

भोजन न करते हुए लोगों के सामने भोजन करना अथवा किसी एक मनुष्य के सामने भी जो भोजन न करता हो, अनेक मनुष्यों का भोजन करना उचित नहीं माना जाता था। अकेले भोजन करना सबसे अच्छा माना जाता था। लोगों की धारणा थी कि साथ भोजन करने वालों के पापों का भागी बनना पड़ता है।

भोजन करते समय दाहिने हाथ से जल पिया जाता था। भोजन समाप्त कर लेने पर भी जल पीकर तथा हाथ धोकर दो बार आचमन किया जाता था। कोमलता से दातुन करके दाँतों को निर्मल कर लिया जाता था और आचमन करके मुँह में ताम्बूल रख लिया जाता था।

वस्त्र

सिन्धु-सभ्यता के युग से ही भारत में रुई के उत्तम वस्त्र सदैव बनते आये हैं। इनके अतिरिक्त ऊन, छाल, रेशम, सन आदि के वस्त्र समय-समय पर बनते रहे। मृगचर्म भी ओढ़ने और बिछाने के काम में प्रायः आता था। अन्य कई पशुओं के चमड़ों का इस भाँति उपयोग होता था।

सिन्धु-सभ्यता के लोग चादर शरीर पर डाल लेते थे। चादर बायें कन्धे के ऊपर से होकर दाहिने हाथ के नीचे से जाती थी। स्त्रियाँ कपड़े से सिर ढकती थीं।

वैदिक काल में वास (धोती या साड़ी) अधोवस्त्र था। शरीर के ऊपरी भाग को अधिवास नामक कपड़े से ढकते थे। उस समय विभिन्न अवसरों और कार्यों के लिये विभिन्न प्रकार के वस्त्रों के पहिनने की रीति थी। पूजा और यज्ञ की विधियों के लिये नये वस्त्र पहने जाते थे। पुरोहित, यजमान और उसकी

पत्नी को धुले हुए वस्त्र पहनना पड़ता था। अभिचार-यज्ञों में पुरोहित लाल वस्त्र और पगड़ी बाँधता था। महाव्रत का यजमान रेशमी वस्त्र धारण करता था और उसकी पत्नी कुश का वस्त्र पहनती थी। वेदाध्ययन, दान, भोजन और आचमन करते समय बौधायन के अनुसार उत्तरीय धारण करना आवश्यक था। स्नातक और गृहस्थ को श्वेत वस्त्र पहनने की व्यवस्था थी। वे भड़कीले वस्त्र नहीं पहन सकते थे। नीले या लाल वस्त्रों का पहनना उचित नहीं माना जाता था। इनको पहन लेने पर प्रायश्चित्त करना पड़ता था।

जातकों में पुरुषों के दुस्स-युग और स्त्रियों के साटक पहनने के उल्लेख मिलते हैं। उस समय धूप के धूयें से वस्त्रों को सुगन्धित करने की रीति थी।

विदेशी लोगों के साथ ही उनके कुछ पहनावे भी भारत में आये। इनमें से टोपी, कंचुक और पायजामे प्रमुख हैं। ये पहनावे राज-सभा और नगरों तक ही सीमित रह गये। साधारण लोगों का पहनावा सदा ही धोती, दुपट्टा और पगड़ी आदि रहीं।

भारतीय वस्त्र प्रायः ढीले-ढाले रहे हैं। ऐसे वस्त्र इस देश की जलवायु के अनुकूल पड़ते हैं। इनसे शारीरिक शुद्धि तथा वायु और प्रकाश का भीतर प्रवेश सम्भव होता है।

शरीर-शुद्धि

सिन्धु-सभ्यता के युग से ही भारतवासी शरीर की शुद्धि का पूरा-पूरा ध्यान रखते आये हैं। वे प्रातःकाल उठते ही दातुन से दाँत माँजते थे। वैदिक काल में दातुन प्रायः काँटेदार या दूध देने वाले वृक्ष की होती थी। दातुन की लम्बाई १२ अंगुल

और मोटाई कानी अंगुली के समान होती थी। उसके बीच कोई छेद नहीं होता था। जिस वृक्ष की टहनी से दातुन बनाई जाती थी, उसकी प्रार्थना इन शब्दों में की जाती थी—हे वृक्ष ! मुझे दीर्घायु, बल, यश, तेज, सन्तति, पशु, धन, वेद-ज्ञान, स्मरण-शक्ति और उत्कृष्ट बुद्धि प्रदान करो।

दातुन के पश्चात् स्नान होता था। शरीर की शुद्धि के लिये शुद्ध मिट्टी से शरीर को रगड़ने की विधि थी। इस प्रयोजन के लिये मिट्टी पृथ्वी तल को ६ इंच खोदकर उसके नीचे से निकाली जाती थी। स्नान का महत्त्व इतना अधिक था कि रोगियों को भी स्नान कराया जाता था, भले ही वह स्नान गर्म पानी से हो अथवा सिर को छोड़ कर शेष शरीर के लिये हो या भीगे वस्त्र से शरीर को पोंछ ही दिया जाय। स्नान के पहले कुछ लोग व्यायाम करते थे और तेल लगाकर अंगमर्दन करा लेते थे।

स्नान का महत्त्व महर्षि व्यास ने महाभारत में इस प्रकार बताया है—

गुणा दश स्नानशीलं भजन्ते बलं रूपं स्वरवर्णप्रशुद्धिः
स्पर्शश्च गन्धश्च विशुद्धता च श्रीः सौकुमार्यं प्रवराश्च नार्यः

(स्नान करने वाले मनुष्य में दश गुण अनायास आ जाते हैं—बल, रूप, मधुर स्वर, शरीर की मनोरम कान्ति, शरीर का सुखावह स्पर्श और मनोरम गन्ध, विशुद्धता और वरेण्य नारी। पद्म पुराण के अनुसार स्नान के बिना न तो शरीर निर्मल होता है और न मन।

स्नान के लिये प्रकृति ने पूरी सुविधायें प्रस्तुत की हैं। इस देश में प्रायः सर्वत्र, नदी, झील, झरने और सोते आदि मिलते हैं। जहाँ से ये प्राकृतिक सुविधायें निकट नहीं पड़तीं, वहाँ लोग कुयें और जलाशय खुदवाते थे और स्नानागार भी बन-

बाते थे। जातक काल की एक पुष्करिणी का वर्णन इस प्रकार मिलता है—इसमें सौ घाट थे, पाँच प्रकार के कमल खिल रहे थे और इसमें सहस्रों मोड़ थे। कालिदास ने समसामयिक धारा-गृहों का वर्णन किया है, जिसमें ग्रीष्म-ऋतु में यन्त्र के द्वारा संचारित होकर शीतल जल आता था और स्नान करते समय बैठने के लिये मणि-शिलायें बनी हुई थीं। इन शिलाओं पर चन्दन के जल से छिड़काव किया जाता था। स्नानागार में जल की द्रोणी में कुछ देर बैठकर सुगन्धित जल से नहाया जाता था। शरीर का मैल छुड़ाने के लिये हर तीसरे दिन फेन का प्रयोग किया जाता था।

केश-रचना

स्नान करने के पश्चात् लोग केश को धूप के धूएँ से सुगन्धित करके विभिन्न शैलियों से उनको सुसज्जित करते आये हैं। सिन्धु-सभ्यता के लोगों में प्रायः केश को पीछे की ओर मोड़ कर बाँधने की रीति थी। कुछ लोग केश को कटवा कर छोटा भी कर लेते थे। पुरुषों में कुछ लोग मूँछे मुड़ाते थे। अधिकतर लोग छोटी सी दाढ़ी रखते थे। स्त्रियाँ केश में चिमटी और काँटे लगाती थीं। कुछ लोग केश के बीच से माँग (सीमन्त) बनाते थे। स्त्रियाँ पंखे के समान सिर के ऊपर वस्त्र बाँधती थीं। केश में फूल खोंसने का प्रचलन भी था। पुरुष और स्त्रियों की केश-रचना प्रायः समान ही थी।

वैदिक काल में बड़े-बड़े बाल रखे जाते थे। स्त्री और पुरुष सिर पर जूड़ा बनाकर बाँधते थे। इस जूड़े का नाम कपर्द था। कुमारियाँ केश को चार चोटियाँ बनाकर एक में बाँधती थीं। बाल के गुच्छों को कसने के लिये कुरीर नामक गहना सिर पर पहना जाता था।

महाभारत-काल में सौभाग्यवती स्त्रियों के माँग बनाने का उल्लेख मिलता है। वे सिर पर जूड़ा बनाती थीं। एक या तीन वेणियों में बाल सुसज्जित किये जाते थे। जिस स्त्री का पति विदेश में होता था, वह केवल एक वेणी बनाती थी। माँग के बीच केसर अथवा कुंकुम भरने का प्रचलन था। ललाट पर भी कुंकुम लगाया जाता था। ब्राह्मण प्रायः सिर के बाल मुड़वा देते थे और क्षत्रिय लोग सिर पर बड़े बाल रखते थे।

गुप्त-काल में पुरुषों के सिर पर केशों का जूड़ा होता था, जो धागे या स्वर्ण सूत्र से बाँधा जाता था। कुछ लोगों के केश दो भागों में विभक्त होते थे और दोनों कन्धों के समीप उनका जूड़ा बनाया जाता था। स्त्रियाँ लम्बे-लम्बे केश की वेणियाँ गूँथ लेती थीं या सिर पर जूड़ा बनाती थीं। अजन्ता की गुफाओं में स्त्रियों के चित्रों को देखने से प्रतीत होता है कि उस समय केश-रचना की विविध शैलियाँ प्रचलित थीं। चित्रों में कुछ स्त्रियों के केश बीच से तथा कुछ के दाहिनी ओर से विभक्त किये गए हैं। मस्तक के ऊपर के केश या तो पीछे की ओर मोड़ दिये गए हैं या सामने की ओर घुँघराले बनाकर लटकाये गये हैं। वेणियाँ या तो पीछे लटकती हैं या केशों का गुच्छा पीछे की ओर गर्दन पर लटकाया गया है। केश-विन्यास की विविधता का मूलाधार तत्कालीन नागरिकों की सुरुचि और कला-विलास थे।

सातवीं शती की केश-रचना का परिचय ह्वेनसांग के वर्णनों से लगता है। उस समय भी पुरुष बड़े-बड़े बाल रखते थे। स्त्रियाँ विभिन्न प्रकार के मनोरम केश-विन्यास करती थीं। बालों का जूड़ा पीछे बाँधा जाता था। उसमें सुगन्धित फूल भी खोंसे जाते थे। केश-पाश को सँवार कर उसके ऊपर से सुगन्धित

माला भी पहनी जाती थी। ब्राह्मण लोग सिर और दाढ़ी के बाल कटवाते थे। क्षत्रिय लोग लम्बी लम्बी दाढ़ी रखते थे।

केशरचना का सबसे अधिक मनोरम प्रदर्शन भुवनेश्वर के दसवीं शती के मन्दिर की स्त्रियों की मूर्त्ति में किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि घंटों के परिश्रम से ही इस प्रकार की केश-रचना हो पाती होगी। ललाट और केशों को विविध प्रकार के रत्नों, मणियों और मोतियों के आभूषणों से सजाया जाता था।

आभूषण

प्रकृति-प्रदत्त सौन्दर्य से सन्तुष्ट न होकर मानवों ने शरीर को विविध प्रकार के उपायों से सजाया है। प्राचीन काल में इस दृष्टि से आभूषण का स्थान पुरुष और स्त्री दोनों के लिये सर्वप्रथम रहा है। सिन्धु-सभ्यता के युग में स्त्री और पुरुष दोनों हँसली और छाप पहनते थे, स्त्रियाँ कान में बाली, हाथ पर चूड़ी, कमर पर करधनी और पैर में साँठ आदि पहनती थीं। धनी लोगों के आभूषण सोने, चाँदी, मोतियों और रत्नों के होते थे। दीन-हीन लोग काँसे, सीपी, कौड़ी अथवा मिट्टी के गहनों से ही सन्तोष कर लेते थे। फूलों से गहने बना लेना तो किसी सुरुचिपूर्ण व्यक्ति के लिए सदा ही बाँये हाथ का खेल रहा है। हाथी-दाँत के भी गहने बनते थे। लोग सिर पर तिकोने, गले में हार, बाहु में कंकण और पैरों में नूपुर आदि भी पहनते थे।

वैदिक काल में केश के गुच्छों को कसने के लिये कुरीर पहने जाते थे। सिर पर कुम्भ नामक गहना धारण किया जाता था। धनी लोग सिर पर स्वर्ण-मुकुट पहनते थे। हाथ और पैर दोनों में कड़े पहनने का प्रचलन था। कानों में कर्णशोभन नाम

का गहना पहना जाता था। गर्दन में निष्क, सृंका, मणिग्रीव, रुक और रुक्म नामक हार पहने जाते थे। उस समय गहने सोने, चाँदी और मोतियों के बनाये जाते थे। महाभारत में भुजाओं के गहने—केयूर और अंगद का उल्लेख मिलता है। धनी लोग कड़े और पहुँची पहनते थे। रानियाँ सिर पर सोने की पट्टियाँ पहनती थीं। कमर में कांची या रशना तथा पैर में नूपुर पहने जाते थे। मणियों और रत्नों के हार गले में पहने जाते थे। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में विविध प्रकार के हारों का उल्लेख मिलता है, जिनमें १००८, ५०४, ६४, ५४, ३२, २७, २४, २० और १० लड़ियाँ होती थीं। एक लड़ी का हार एकावली कहा जाता था।

गुप्तकाल में सिर पर चूड़ामणि, मुक्तगुण और किरीट पहने जाते थे। कानों में कर्णभूषण, कर्णपूर और मणिकुण्डल आदि विभिन्न प्रकार के कुण्डल पहने जाते थे। बाँह में अंगद, केयूर और वलय धारण किये जाते थे। करधनी विविध प्रकार की होती थीं, जिनके नाम मेखला, हेम-मेखला, कांची, कनक-किंकणी और रशना आदि मिलते हैं। अजन्ता के चित्रों से ज्ञात होता है कि माँग को अलंकृत करने के लिये स्त्रियाँ रत्न-जटित अलंकार धारण करती थीं। उस समय जूड़े में भी बहुमूल्य रत्न लटकाने का प्रचलन था। पुरुष और स्त्री दोनों में समान रूप से अनेक हार एक दूसरे की शोभा बढ़ाने के लिये पहनने का प्रचलन था।

सातवीं शती के अलंकारों का परिचय ह्वेनसांग के लेखों और बाण की रचनाओं से मिलता है। उस समय लोग अमूल्य मणियों और रत्नों के हार, अंगूठियाँ, कड़े और मालायें धारण करते थे। कुछ स्त्रियाँ कानों के नीचे के भाग को दो भागों में

कटवा कर प्रत्येक भाग में छेद कराकर उनके बीच तार डलवा कर उससे सोने के सुन्दर अलंकार लटकाती थी। पैरों में सादे या घुँघरू वाले गहने पहने जाते थे। हाथी-दाँत की चूड़ियों से कलाई अलंकृत की जाती थी।

प्राचीन काल में नाक में नथ पहनने का प्रचलन नहीं रहा है। संभवतः आगे चल कर यह गहना मुसलमानों की वेश-भूषा से लिया गया हो।

उपर्युक्त सारी सजावटों के लिये दर्पण का होना आवश्यक था। सिन्धु-सभ्यता के लोग पीतल, ताँबे और काँसे के दर्पणों से काम चलाते थे। उसी समय से विभिन्न प्रकार के दर्पणों का उपयोग सदैव होता रहा।

शृंगार-विधि

शृंगार-विधि के द्वारा शरीर को मनोरम बनाने के लिए विविध प्रकार के लेप, चूर्ण और तेलों का उपयोग होता था। लोग श्वेत बालों को लेप से काला करते थे। केश में सुवासित तेल लगाया जाता था। शेष अंगों में ऊपर से नीचे तक अंगराग लगाया जाता था। आँखों में अंजन, ओठों पर अधर-राग तथा मुख और छाती पर चन्दन के लेप और केसर के चूर्ण का प्रयोग होता था। स्त्रियाँ मुख पर पत्रावली की रचना करती थीं। कुंकुम-रस के लेपन से सारा शरीर स्वर्ण की भाँति चमकने लगता था। पैर पर लाख के गाढ़े रंग से विविध प्रकार के चित्र बनाये जाते थे। मुख को सुवासित करने के लिये ताम्बूल के अतिरिक्त कमल से वासित एक द्रव्य को चूसा जाता था, जिसे जायफल, कस्तूरी और कपूर के चूर्ण को आम के रस तथा मधु में मिलाकर बनाया जाता था।

शासन-संस्था

नृपतन्त्र

मानव जब तक अकेले या पति-पत्नी का छोटा कुटुम्ब बनाकर रह लेता है, तब तक शासन की कोई विशेष आवश्यकता नहीं रहती है; पर ज्यों ही कई लोगों का एक समूह अथवा कुटुम्ब बन जाता है, उनको नेता अथवा शासक की आवश्यकता पड़ती है। नेता उन सभी लोगों के कर्तव्य-पथ का निश्चय करता है और शासक उनके पारस्परिक झगड़ों का निपटारा करता है। पशु-पक्षियों के भी समूह पाये जाते हैं; इन समूहों का नेता होता है, जो उस समूह का संचालन करता है। ऐसी व्यवस्था स्वाभाविक है जो लाखों वर्षों तक प्रचलित रही। उस प्राचीन युग का नेता अथवा शासक सबसे अधिक बुद्धिमान्, दूरदर्शी और बलवान् होता था।

राज्य

शासन-संस्था का प्रचलन कुटुम्ब से होकर धीरे-धीरे बड़े जन-समूह के लिए हुआ। ऋग्वेद के उल्लेखों से ज्ञात होता है कि उस समय कुटुम्ब, जन्मन्, विश् और जन नामक उत्तरोत्तर बड़े समूह थे। एक जाति के कई कुटुम्बों के जन्मन् (गाँव), अनेक जन्मनों के विश् और बहुत से विशों के जन होते थे। इन सभी जन-समूहों के अधिपति होते थे। विश्-पति और जन-पति का पद ऊँचा था। धीरे-धीरे बड़े राज्यों की स्थापना

होने लगी। वैदिक काल में ही आगे चल कर कई जनों के अधिपति होने लगे। उस समय के शासकों के नाम राजा, महाराज, सम्राट् आदि मिलते हैं।

चाहे कोई राजा, महाराज या सम्राट् हो अथवा प्रजा के द्वारा चुना हुआ राष्ट्रपति हो, उसके पीछे प्रजा का होना आवश्यक ही है। प्रजा शक्तिमान् और बुद्धिमान् लोगों को अपना शासक चुनती थी। जिन प्रदेशों में प्रजा के चुने हुए शासक होते थे, उन्हें विराट् कहा जाता था।

वैदिक काल में छोटे-छोटे राजा मिलकर अपने संघ भी बना लेते थे। उनको गण-राज्य या राज्य-संघ कहा जाता था। ऐसे गणों की स्थापना संभवतः अपनी सुरक्षा के लिये तथा शत्रुओं का सफलतापूर्वक सम्मिलित शक्ति से सामना करने के लिये हुई थी।

भारतीय राज्य-सत्ता के सात अंग माने गये हैं—राजा, मन्त्री, राज्य, कोष, दुर्ग, सेना और मित्र। इन सातों अंगों का उपयोग प्रजा को धन-धान्य सम्पन्न बनाने के लिये तथा उनमें सदाचार की वृद्धि के लिये होता था। प्रजा का अभ्युदय राज्य का प्रधान उद्देश्य था। व्यक्तिगत और सामाजिक प्रयत्नों से केवल कुछ व्यक्तियों और समाजों की उन्नति हो सकती है, पर जीवन के सभी क्षेत्रों में सर्वाङ्गीण उन्नति के लिये तथा प्रजा की सुख और शान्ति की व्यवस्था के लिये सुव्यवस्थित राज्य-संस्था की सदा ही बड़ी उपयोगिता रही है।

राजा

प्राचीन भारत में राजा दो प्रकार से बनते थे—स्वयं प्रतिष्ठित और प्रजा-प्रतिष्ठित। जो मनुष्य अपनी प्रतिभा, चरित्र और

रण-कौशल से किसी भू-भाग या जन-समूह की सुरक्षा का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लेता था, वह स्वयं-प्रतिष्ठित राजा होता था। प्रजा के द्वारा चुना हुआ राजा प्रजा-प्रतिष्ठित होता था। वैदिक काल में चुनाव का अधिकार राष्ट्र के प्रतिष्ठित व्यक्तियों को ही था। ऐसे प्रतिष्ठित व्यक्तियों में जन्मनों और विशों के अधिपति होते थे।

किसी राजा का योग्य पुत्र उसके पश्चात् प्रायः राजा बन जाता था। इस सम्बन्ध में ज्येष्ठ पुत्र का अधिकार अन्य पुत्रों से बढ़ कर माना जाता था। उसके छोटे भाई प्रायः प्रान्तों के शासक बना दिये जाते थे अथवा राजधानी में ही उच्च पदों पर नियुक्त हो जाते थे।

साधारणतः भारतीय धर्म-शास्त्र स्त्रियों को राजपद देने के पक्ष में नहीं हैं, पर व्यवहार रूप में स्त्रियों के शासन का भार सँभालने के कई उदाहरण मिलते हैं। यदि किसी राजा की मृत्यु होने पर उसका पुत्र छोटा होता था तो राज-माता की अध्यक्षता में एक परिषद् बनती थी। शातकर्णी वंश की नयनिका (१५० ई० पू०) और वाकाटक वंश की रानी प्रभावती गुप्त (३६० ई०) ऐसी राजमातायें हो चुकी हैं। दक्षिण भारत में चालुक्य और राष्ट्रकूट वंश की स्त्रियाँ उच्च कोटि की शासिकायें हो चुकी हैं।

वैदिक काल में राजा को देव (देवता) मानने की भावना का उदय हुआ। धीरे-धीरे राजा को देव-पद की प्राप्ति इस सीमा तक हो गई कि उसे सभी देवताओं का प्रतीक माना गया। यह भावना केवल उच्चकोटि के सच्चरित्र राजाओं के लिये ही थी। दुष्ट राजा राक्षसों के प्रतीक माने गये हैं। धर्म-शास्त्रों ने यथाशीघ्र उनको राजपद से हटा देने की सीख दी है।

राजत्व का मौलिक आदर्श देवताओं के राजा वरुण का शासन माना जाता था। वरुण का प्रधान कर्तव्य ऋत (सत्य) और धर्म की स्थापना और रक्षा करना था। वरुण स्वयं धृतव्रत हैं। यही मौलिक आदर्श भारतीय राजाओं के सामने सदा प्रस्तुत किया गया। राजा स्वयं धार्मिक एवं कर्तव्यपरायण था। ऐसी परिस्थिति में प्रजा 'यथा राजा तथा प्रजा' के अनुसार स्वभावतः धार्मिक बन जाती थी। प्रजा के सुख और अभ्युदय के लिये सर्वाधिक प्रयत्न करने वाला राजा प्रजा का सेवक माना गया है। राजकोश का उपयोग अपनी निजी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये करना उसके लिये महान् पाप गिना गया। ऐसा करने वाला राजा नरक का द्वार अपने लिये खोल लेता है।

उपर्युक्त दिशा में राजा के व्यक्तित्व का विकास करने के लिये उसकी बाल्यावस्था से ही प्रयत्न होते थे। उसे अपने पद के योग्य बनने के लिये शस्त्रों के साथ शास्त्रों की शिक्षा दी जाती थी। उसकी भावनाओं को उदात्त बनाने के लिये महापुरुषों के आदर्श उसके सामने रखे जाते थे। उसे सज्जनों और विद्वानों की संगति में रखा जाता था। उसके मन में प्रत्यक्ष और गौण रूप से यह बात बैठा दी जाती थी कि कर्तव्य-विमुख और अधार्मिक होने पर अथवा अत्याचार करने पर उसको पदच्युत होना ही पड़ेगा, जैसा कि प्राचीन काल में अनेक बुरे राजाओं को होना पड़ा था। भारतीय शास्त्रों ने अनुमति दी है कि दुष्ट राजाओं का राज्य छोड़ कर अच्छे राजाओं के राज्य में जा बसना चाहिए।

मन्त्री

राजा की सहायता के लिये मन्त्रियों की आवश्यकता स्वाभाविक है। राजकीय समस्याओं का समाधान करते समय वैदिक

काल से ही राजा मन्त्रियों के मतों को सुनते आये हैं। सर्वप्रथम यजुर्वेद में रत्नी नामक पदाधिकारियों का उल्लेख मिलता है। रत्नी राजा के सम्बन्धी, मन्त्री, विभागों के अध्यक्ष और अन्य महत्त्वपूर्ण सभासद् होते थे। रत्नियों में पुरोहित का स्थान सर्वोच्च था। प्रधान रानी भी रत्नी होती थी। विभिन्न राजकीय विभागों के अध्यक्ष सेनानी (सेनापति), सूत (राजा का रथ-वाहक), ग्रामणी (गाँवों के प्रधान लोगों में सर्वश्रेष्ठ), संग्रहीता (कोषाध्यक्ष) और भागधुक् (कर-संग्रह करने वाला) होते थे। सभासद् रत्नियों में क्षत्ता, अक्षावाप तथा पालागल होते थे। क्षत्ता राजा के साथ रह कर सदा उसके विद्वान् मित्र की भाँति कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान कराता था। अक्षावाप जुआ और पालागल विनोद के साथी थे। उपर्युक्त सभी रत्नी अपने-अपने क्षेत्र में राजा को परामर्श देते थे।

रत्नियों का उल्लेख वैदिक साहित्य तक ही सीमित है। इसके पश्चात् राजा की सहायता के लिये मन्त्रिमण्डल का प्रचलन हुआ। मन्त्रियों का अधिकार धीरे-धीरे बढ़ता गया। राजा के निःसन्तान मर जाने पर उनके राजा तक नियुक्त कर देने के उल्लेख मिलते हैं। कई मन्त्री तो इतने शक्तिशाली हुए कि निकम्मे राजाओं को हटा कर स्वयं राजा बन गये। रामायण में दशरथ की मृत्यु के पश्चात् कोई राजा न रहने पर पुरोहित-मन्त्री वसिष्ठ के राज-काज संभालने का उल्लेख किया गया है। राज्य में सुख-शान्ति और समृद्धि के लिये समुचित प्रबन्ध करना मन्त्रिमण्डल का उत्तरदायित्व था। मन्त्रिमण्डल भविष्य में अच्छे राजा बनाने के लिए राजकुमारों की उचित शिक्षा का प्रबन्ध करता था। मन्त्रियों के अधिकारों को देखने से यही परिणाम निकलता है कि प्राचीन युग में राजा की स्वेच्छाचारिता

नहीं के बराबर थी। इसमें कोई सन्देह नहीं कि बुरे राजा निकम्मे मन्त्रियों को चुन लेते थे और भोग-विलास में लिप्त होकर सब कुछ खो बैठते थे, पर साथ ही यह भी सच है कि सच्चरित्र मन्त्रियों के विचारों से राजा भी प्रभावित होता था और उनका कहना न मान कर अथवा उनसे वैर मोल लेकर अपनी ही जड़ खोदता था। राजा मन्त्रियों के आदेशानुसार अपनी आज्ञाओं में भी संशोधन करते थे।

मन्त्रिमण्डल की अध्यक्षता प्रधान-मन्त्री करता था। वह सभी मन्त्रियों से अधिक योग्य और प्रभावशाली व्यक्ति होता था। प्रधान मन्त्री के नीचे युद्ध-मन्त्री का पद होता था। युद्ध-मन्त्री के अन्य नाम सेनापति, महाबलाधिकृत, कम्पन और महाप्रचण्डदण्डनायक आदि मिलते हैं। युद्ध-मन्त्री के पश्चात् परराष्ट्र-मन्त्री का स्थान होता था। यह मन्त्री साम, दाम, दंड और भेद की प्रक्रिया में प्रवीण होता था। प्रधान न्यायाधीश प्राड्विवाक राज्य के बड़े अभियोगों का न्याय करता था। पंडित नामक मन्त्री विवादग्रस्त विषयों के सम्बन्ध में धर्मशास्त्र और लोकाचार सम्बन्धी मत का उल्लेख करता था। वह राष्ट्र को सांस्कृतिक दृष्टिकोण से प्रगतिशील बनाने के लिए शास्त्रीय व्यवस्थायें उपस्थित करता था। कोषाध्यक्ष-मन्त्री, जिसके नाम संग्रहीता, समाहर्ता, भाण्डागारिक आदि समय-समय पर रखे गये, राष्ट्रीय आय-व्यय का लेखा रखता था।

मन्त्रियों की संख्या के सम्बन्ध में कोई निश्चित मत नहीं मिलता है। उनकी संख्या आवश्यकतानुसार कम या अधिक हो सकती थी। कई मन्त्री दो विभागों को भी सँभाल लेते थे। इस सम्बन्ध में शास्त्रकारों ने केवल यही निश्चित मत प्रकट किया है कि मन्त्रियों की संख्या बहुत अधिक नहीं होनी चाहिये।

महाभारत में आठ, मनुस्मृति में सात या आठ और शुक्रनीति में दस मन्त्रियों की संख्या निर्धारित की गई है।

राजा स्वयं मन्त्रियों को नियुक्त करता था, उनकी पद-वृद्धि कर सकता था अथवा उनको निकाल सकता था। विषम परिस्थितियों में मन्त्री राजा के सर्वनाश करने के लिए षड्यन्त्र रचते थे और राजा भी उनका निर्वासन कर देता था, पर साधारण परिस्थितियों में राजा और मन्त्री का सहयोग होता था, वे एक दूसरे का सम्मान करते थे। राजा समझता था कि मेरी निजी उन्नति और राष्ट्र का अभ्युदय मन्त्रियों के प्रयत्न से ही सम्भव है। मन्त्री भी प्रजा और राष्ट्र के संवर्धन के लिए प्राणपण से प्रयत्न करते थे और अपना सर्वस्व त्याग देने के लिये उद्यत रहते थे। वे राजा की रक्षा करने के लिए अपना प्राण तक दे सकते थे। इस उच्च आदर्श की सफल प्रतिष्ठा राजा जयापीड के मन्त्री ने की है। जब राजा बन्दी हो गया तो मन्त्री ने अपना प्राण इसलिए दे दिया कि उसके फूले हुए शव के सहारे राजा नदी पार कर शत्रुओं के कारागार से स्वतन्त्र हो जाये। होयसल-वंशी बल्लाल द्वितीय का मन्त्री, राजा की मृत्यु हो जाने पर एक ऊँचे खंभे से कूद कर मर गया। यह थी आदर्श मन्त्रियों की राज-भक्ति।

केन्द्रीय शासन

शासन की सुव्यवस्था के बिना सिन्धु सभ्यता की नागरिकता का उदय असम्भव होता। केवल इसी आधार पर यह कल्पना कर सकते हैं कि तत्कालीन शासन-पद्धति भली-भाँति विकसित थी।

वैदिक कालीन शासन का परिचय तत्कालीन साहित्य से मिलता है। उस समय की शासन-पद्धति जटिल नहीं थी। कुछ

राजपुरुष प्रजा की समस्यायें राजा तक पहुँचाते थे और राजा की आज्ञायें प्रजा को समझाते थे। धीरे-धीरे केन्द्रीय शासन का विकास हुआ। ई० पू० चौथी शती से केन्द्रीय शासन के विभिन्न विभागों के अध्यक्ष 'लेखक' नाम के कर्मचारियों का परिचय मिलता है। लेखक राजकीय आदेशों को सुचारु रूप में लिखने की व्यवस्था करते थे और उन्हें राजकीय मुद्राओं से प्रमाणित करके प्रजा के बीच काम करने वाले कर्मचारियों के पास कार्यान्वित करने के लिये भेज देते थे। आगे चल कर लेखकों की दूसरी उपाधि अक्षपटलिक और महाक्षपटलिक मिलती है।

केन्द्रीय शासन में राजा स्वयं प्रमुख भाग लेता था। वह अपने राज्य के विभिन्न प्रदेशों में समय-समय पर दौरा करता था और वहाँ की प्रजा की परिस्थिति का परिचय प्राप्त करता था तथा राजकर्मचारियों के कार्यों का निरीक्षण करता था। राजकर्मचारियों के कामों के विषय में राजकीय दूत भी राजा को समाचार देते थे। जहाँ-कहीं भी राष्ट्रीय धन का दुरुपयोग होता था, कोई न्यायाधीश अनुचित न्याय करता था, प्रजा के बीच राजद्रोह, उपद्रव अथवा अत्याचार होता था अथवा प्रजा के ऊपर किसी प्रकार की विपत्ति आ पड़ती थी, राजदूत राजा को समाचार देते थे कि उचित व्यवस्था के द्वारा गड़बड़ी दूर होनी चाहिए।

राज्य में सुव्यवस्था रखने के लिये तथा परराष्ट्रों के आक्रमण से बचाने के लिए प्रत्येक राजा सुव्यवस्थित सेना रखता था। सेनापति, जो प्रायः युद्ध मन्त्री, प्रधान न्यायाधीश और न्यायमन्त्री भी होता था, युद्ध विभाग का अध्यक्ष होता था। उसको महासेनापति, महाबलाधिकृत या महाप्रचण्डदण्डनायक

आदि उपाधियाँ समय-समय पर दी गई थीं। सेनापति के नीचे सेना को युद्ध-भूमि में क्रमबद्ध खड़ा कराने वाला अधिकारी महाव्यूहपति और चार प्रकार की सेनाओं—पैदल, घुड़सवार, हाथी वाली और रथी—के अध्यक्ष होते थे। सेना-सम्बन्धी अन्य अधिकारी दुर्गों के अध्यक्ष कोटपाल, सैनिक सामग्री के अध्यक्ष रण-भाण्डागाराध्यक्ष आदि होते थे। सैनिकों को शिक्षा देने के लिए विशेष प्रबन्ध किया गया था। सेना के लिये उपयोगी हाथी और घोड़ों को वर्षों सिखाया जाता था कि युद्ध की विषम परिस्थितियों में वे किस प्रकार धैर्यपूर्वक डटे रहें।

नौ-सेना का सर्वप्रथम उल्लेख मौर्य-काल से मिलता है। उस समय से प्रायः सदा ही समुद्र और बड़ी नदियों के समीपस्थ राज्यों में नौसेना रखने का प्रचलन रहा है। कामरूप के राजा कुमार राज (भास्कर वर्मा) के पास ३०,००० सैनिक नावों का बेड़ा था। बंगाल के पाल राजाओं की नौसेना बड़ी शक्तिशालिनी थी। सुदूर दक्षिण के सभी राज्यों में बड़ी नौ-सेनायें थीं। सामुद्रिक व्यापार की रक्षा के लिये तामिल राज्य में सेना रखी जाती थी। चोल वंशी राजाओं ने ११वीं शती में नौ-सेना के बल पर अनेक दूरस्थ द्वीपों पर भी विजय-पताका फहराई। नौ-सेना की सहायता से ही बृहत्तर भारत में भारतीय साम्राज्य की प्रतिष्ठा हो सकी थी।

परराष्ट्र मन्त्री अन्य राष्ट्रों और विदेशियों के सम्बन्ध में सजग रहता था। इस विभाग के गुप्तचर अन्य राष्ट्रों में तथा अपने राज्य में भ्रमण करते थे और मन्त्री को आवश्यक सूचनायें देते थे। महामुद्राध्यक्ष नामक इस विभाग का अधिकारी विदेशियों को अपने राष्ट्र में विचरने के लिए अधिकार-पत्र

देता था। परराष्ट्रमन्त्री के अन्य नाम महासन्धि विग्रहिक तथा दूत आदि भी मिलते हैं।

राजकीय आय के विभिन्न विभागों के अलग-अलग अध्यक्ष होते थे। सीताध्यक्ष राजकीय खेती के काम-काज की देख-भाल करता था। अरण्याध्यक्ष वन से आय करता था। गो-अध्यक्ष राजकीय पशुओं की वृद्धि के उपाय करता था। विवीताध्यक्ष खेती के काम में न आने वाली भूमि से आय करने का प्रबन्ध करता था। महाक्षपटलिक भूमिकर का प्रबन्ध करता था। इसी प्रकार के अन्य अध्यक्ष सूत्र (सूत), सुरा, गणिका (वेश्या), सूना (मांस-विक्रय), सुवर्ण (मुद्रा), पण्य (व्यापार), शुल्क (चुंगी) आदि से आय का प्रबन्ध करते थे।

राजकीय आय को समुचित रूप से सुरक्षित रखने वाला अधिकारी कोषाध्यक्ष होता था। वह राजकीय धन के व्यय सम्बन्धी समस्याओं का समाधान भी करता था। राजकीय आय विभिन्न प्रकार के द्रव्यों के रूप में होती थी; लकड़ी, तेल और घी आदि से लेकर रत्न और मणियाँ प्राप्त होती थीं। इनके मूल्य का निर्धारण और उनका संरक्षण कोषाध्यक्ष ही करता था।

न्याय

न्याय के क्षेत्र में राजा सदा ही सर्वोच्च अधिकारी माना गया है। यों तो छोटे-मोटे अभियोग ग्रामीण पंचायतों में अथवा नगर के न्यायालयों में देखे-सुने जाते थे, पर किसी भी अभियोग की समुचित सुनवाई न होने पर प्रजा को अधिकार था कि उसे व्यक्तिगत या सामाजिक किसी भी रूप में राजा के सामने उपस्थित करे। राजा के नीचे प्रधान न्यायाधीश होता था, जिसका

नाम प्राड्विवाक् था। अन्य न्यायाधिकारी धर्माध्यक्ष, दंडाध्यक्ष आदि होते थे। चोरों को अथवा अन्य अपराधियों को पकड़ने के लिए चोरोद्धरणिक और दंडपाशिक नामक पदाधिकारी होते थे।

दंड की व्यवस्था बहुत कठोर थी। संभवतः यही कारण है कि इस समय अपराधियों की संख्या कम थी। प्रायः दंड मृत्यु, अंगभंग, निर्वासन और कारावास के रूप में दिये जाते थे। अपराध का निश्चय करने के लिये पूरी छान-बीन की जाती थी। वकीलों का उस युग में अभाव था। अपराधी कभी-कभी दंड पाने के लिये स्वयं भी न्यायाधिकारियों के पास आ जाते थे। समाज अपराधियों का बहिष्कार कर देता था। केवल समाज में प्रतिष्ठित नागरिक ही साक्षी बनाये जा सकते थे।

न्याय की सफलता यही थी कि राजा न्याय के द्वारा असत्य और हिंसा का समूल विनाश कर दे। मिथ्यावादियों के लिए पद-पद पर दंड के रूप में प्रतिबन्ध लगे हुये थे। न्याय-पद्धति में इस प्रकार के रोड़े नहीं थे कि वादी-प्रतिवादी को अनावश्यक प्रतीक्षा करनी पड़े। न्याय के लिये व्यय तो नहीं के बराबर था। वस्तु-स्थिति की खोज करने के लिये भरसक प्रयत्न किया जाता था। लोगों का विश्वास था कि देवता भी मानव-विवादों के उत्पन्न होने पर सत्य की खोज में सहायक होते हैं। इसी विश्वास के आधार पर शपथ तथा दिव्य परीक्षाओं का प्रचलन हुआ था। घूसखोरी नहीं थी। न्यायालय का वातावरण डरावना नहीं था।

प्रदेश का शासन

शासन की सुविधा के लिये राज्य अनेक भागों में बाँट दिया जाता था। बड़े राज्यों में कई प्रदेश होते थे। प्रदेशों का

शासन प्राय: युवराजों के हाथ में सौंपा जाता था। प्रदेश के शासकों को उपराज की उपाधि दी जाती थी। अपने राज्य में उपराज के अधिकार प्राय: वे ही होते थे, जो पूरे राज्यों में राजा या महाराज के होते थे। उपराज के लिए भी मंत्री और राज-सभा होती थी। उनको सन्धि और विग्रह तक का अधिकार भी कभी-कभी प्राप्त होता था। युद्ध के लिये तथा अपने प्रदेश में शान्ति स्थापित करने के लिये उनके पास सेना भी होती थी।

प्रदेशों का विभाजन भुक्तियों, देशों अथवा मंडलों में होता था। अशोक के शासन-काल में प्रदेश के ऐसे भागों का शासन रज्जुक नामक पदाधिकारी करते थे। इनको अपने प्रदेश में शान्ति की व्यवस्था करने के लिये न्याय का अधिकार मिला था। अपनी छोटी सेना के द्वारा आवश्यकता पड़ने पर ये स्थानीय विद्रोहों को दबा सकते थे।

भुक्तियों का विभाजन विषयों (आहरणी, राष्ट्र) में हुआ था। विषय में १००० से लेकर २००० तक गाँव होते थे। विषयों के शासक युत, प्रदेष्टा अथवा विषयपति होते थे। इनके पास भी सेना होती थी। विषय के सभी राजकर्मचारी इन्हीं के अधीन काम करते थे। शासन में विषयपति की सहायता करने के लिए कभी कभी प्रजा के प्रतिष्ठित लोगों की परिषद् भी होती थी।

विषयों के विभाजन भी ग्रामों के समूह के रूप में होते थे। ऐसे समूह ८००, ४००, २०० और १० गाँवों के होते थे। समूहों की रचना अन्य कई विधियों से भी सुविधानुसार कर ली जाती थी। इनमें से प्रत्येक भाग का अधिकारी एक राजपुरुष होता था।

नगरों की शासन-व्यवस्था के लिए विषय-पति के समकक्ष पदाधिकारी नियुक्त होते थे। शासन की सुविधा के लिये नगर

कई भागों में बाँटे जाते थे। नगर का शासन करने के लिये प्रतिष्ठित नागरिकों की समितियाँ बनाई जाती थीं।

ग्राम का शासन

शासन का मूल ग्राम है। प्राचीन भारत में नगरों की संख्या गिनी-गिनाई थी। उनका महत्त्व भारतीय जीवन में अधिक नहीं था। उस युग में ग्रामों की प्रधानता थी। वैदिक काल से ही गाँव का शासन उसी गाँव के प्रधान (मुखिया) के हाथ में मुख्य रूप से रहा है। समय-समय पर तथा विभिन्न प्रान्तों में उसकी उपाधियाँ भिन्न-भिन्न रही हैं। वैदिक काल में ग्रामीण तथा आगे चल कर ग्रामिक, ग्रामेयक, मुनुन्द, ग्रामकूट, पट्टकील, गावन्द, महत्तक आदि सभी गाँव के मुखिया के नाम हैं। यही मुखिया गाँव का राजा माना गया है। वह गाँव के लिये प्रायः सभी ऐसे काम करता था, जो राजा सारे राज्य के लिये करता था। वह गाँव में सुख-शान्ति की व्यवस्था करता था, सभी प्रकार की विपत्तियों से उसकी रक्षा करता था और सभी प्रकार के ग्रामीय झगड़ों और अभियोगों का निपटारा करता था। गाँव के सभी वीर युवकों की एक सेना बनाकर वह गाँव पर आक्रमण करने वाले अत्याचारियों से युद्ध करता था।

प्रत्येक गाँव में शासन का काम सुचारु रूप से चलाने का काम मुखिया की अध्यक्षता में ग्राम-सभा करती थी। इस सभा के प्रायः कई रूप थे। आवश्यकतानुसार इसके सदस्यों की संख्या कम या अधिक हो सकती थी। कभी-कभी तो गाँव के सभी वयस्क लोग सभा-भवन में आ बैठते थे। धीरे-धीरे इन ग्राम-सभाओं की रूप-रेखा अधिक नियमित हो गयी और केवल गिने-चुने प्रतिष्ठित लोग ही उनके सदस्य हो सकते थे। ग्राम-सभाओं की बैठक और कार्यवाही आदि भी सुव्यवस्थित रूप

में होने लगा। ग्राम-सभा कुछ कुशल और सच्चरित्र लोगों की कार्य-कारिणी-समिति चुन लेती थी। यह समिति गाँव की आवश्यक समस्याओं पर विचार करके ग्राम-सभा के सामने रखती थी।

गाँवों में पंचायतें ग्राम-सभा के द्वारा नियुक्त होती थीं। पंचायतों का अधिकार गाँव की ऊसर भूमि तथा अन्य सार्वजनिक वस्तुओं पर होता था। वह गाँव के झगड़ों का निपटारा भी करती थी। राजा भी पंचायतों के निर्णय का सम्मान करता था। पंचायतें भाँति-भाँति की योजनाओं के द्वारा गाँवों को अधिक से अधिक समृद्धिशाली बनाने का यत्न करती थीं। अकाल और महामारी आदि व्यक्तिगत अथवा सामूहिक विपत्तियों का निवारण करने के लिये भरसक प्रयत्न करना पंचायत का प्रमुख कर्तव्य था।

केन्द्रीय शासकों का गाँव के शासन से केवल गौण रूप से ही सम्बन्ध था। राजा समय-समय पर कुछ आवश्यक आदेश गाँव के मुखिया और पंचायतों के लिये भेजते रहते थे।

गणतन्त्र

गण राज्यों का शासन प्रजातन्त्रात्मक था। ऐसे राज्य गौतम बुद्ध के जीवन-काल से लेकर चौथी शती ई० तक इस देश में प्रतिष्ठित थे। गण-राज्यों का प्रचलन विशेषत: उत्तर पूर्वी और उत्तर पश्चिमी भारत में था। उपर्युक्त समय में पंजाब और सिन्ध की घाटी में वृक, दामणि, पार्श्व और कम्बोज राज्य थे। पाणिनि ने त्रिगर्त-षष्ठ नामक गण-राज्यों के संघ का उल्लेख किया है। २०० ई० पू० से लेकर ४०० ई० तक आजकल के आगरा-जयपुर-भूभाग में अर्जुनायन गण राज्य था। यौधेय गण-राज्य बहुत

विस्तृत था। यह पंजाब में लुधियाना से दिल्ली तक और उत्तर प्रदेश में सहारनपुर से भावलपुर तक फैला हुआ था। यह गण राज्य ई० पू० चौथी शती से लेकर कम से कम ३५० ई० तक प्रतिष्ठित रहा। यौधेय वीरों की गाथाओं से तत्कलीन साहित्य भरा पड़ा है। मध्य पंजाब में मद्रों का गण-राज्य था। इन्होंने सिकन्दर का वीरता-पूर्वक सामना किया। इनका गण-राज्य भी चौथी शती ई० तक रहा। मद्रों की भाँति मालव और क्षुद्रक गण-राज्यों ने भी सिकन्दर को रोकने की चेष्टा की थी। मालवों की सेना में एक लाख वीर थे। सिकन्दर के आक्रमण के पश्चात् मालव-क्षुद्रक गण-राज्यों का एक संघ बन गया। मालवों के सर्वप्रथम राज्य की स्थापना चेनाब और रावी नदियों के मध्यस्थ प्रदेश में हुई थी। इस प्रदेश के दक्षिण में क्षुद्रकों का राज्य था। धीरे-धीरे मालव दक्षिण की ओर बढ़ते गये और कुछ समय तक अजमेर-चित्तौड़-टोंक प्रदेश में रहकर फिर आधुनिक मालवा में आ बसे थे।

सिकन्दर के समय में अगेसिनाइ और सिवियों के गण-राज्य उत्तरी प्रदेश में थे। १०० ई० पू० में सिवि चित्तौर के समीप मध्यामिका में प्रतिष्ठित हो गये। क्षुद्रकों के राज्य के दक्षिण में अम्बष्ठों का गण था। द्वारिका के अन्धक वृष्णियों का गण-राज्य महाभारत-काल में सबसे अधिक उन्नतिशील था। यह गण अत्यन्त प्राचीन काल से चला आ रहा था। इस प्रदेश में गण-राज्य कम से कम तीसरी शती तक स्थापित रहा। श्रीकृष्ण इसी अन्धक-वृष्णि गण-संघ के प्रधान थे।

उत्तर प्रदेश के पूर्वी और विहार के उत्तरी प्रदेशों में भी कई गण-राज्य रह चुके हैं। इनमें से भग्ग, बुली, कोलिय और मोरिय राज्य छोटे थे, पर शाक्य, मल्ल, लिच्छवि और विदेह

गण-राज्यों का विस्तार पर्याप्त था। शाक्य राज्य गोरखपुर के उत्तर में नैपाल के सन्निकट था। मल्लों का राज्य पटना तक विस्तृत था। लिच्छवि राज्य की राजधानी वैशाली नगरी थी। विदेह राज्य आधुनिक मिथिला में था। ये सभी राज्य गौतम बुद्ध के जीवन-काल में वर्त्तमान थे।

छोटे-छोटे गण-तन्त्रों के सभासदों की एक समिति होती थी। इस समिति का प्रधान केन्द्र राजधानी होती थी। सदस्यों को राजा और उनके पुत्रों को उपराज की उपाधि दी गई थी। शासन-समिति की ओर से राज्य में स्थान-स्थान पर कर्मचारी नियुक्त किये गये थे। ये कर्मचारी आवश्यकता पड़ने पर प्रजा के आवश्यक समाचारों को राजाओं तक पहुँचाते थे। नगरों और गाँवों का प्रबन्ध पंचायतों के द्वारा किया जाता था।

बड़े गण-राज्यों का शासन प्रधान रूप से राजधानी में प्रतिष्ठित केन्द्रीय समिति के द्वारा होता था। बड़े गण-राज्य शासन की सुविधाओं के लिये प्रदेशों में विभक्त किये जाते थे। इन प्रदेशों तथा बड़े नगरों का शासन स्थानीय समिति के द्वारा होता था।

केन्द्रीय समिति में सदस्यों की संख्या बहुत बड़ी होती थी। राज्य के प्रायः सभी प्रतिष्ठित नागरिक उसके सदस्य होते थे। लिच्छवि गण-राज्य की समिति में ७७०७ तथा यौधेय गण राज्य की समिति में ५००० सदस्य थे। शासन के सर्वाधिकार इसी समिति को प्राप्त थे। युद्ध के लिये सेनापति का चुनाव भी यही समिति करती थी। प्रायः प्रत्येक युद्ध के लिये अलग-अलग सेनापति चुने जाते थे। सन्धि-विग्रह का निर्णय भी इसी समिति के द्वारा होता था। शासन के अतिरिक्त राष्ट्र के अभ्युदय और

प्रगति सम्बन्धी सभी प्रकार की समस्याओं पर समितियों में विचार होता था।

प्रत्येक गण का एक अध्यक्ष होता था। वह अपने गण के मन्त्रि-मण्डल का प्रधान होता था। मन्त्रि-मण्डल के मन्त्रियों की संख्या आवश्यकतानुसार कम या अधिक हो सकती थी। लिच्छवि गण-राज्य में ९ मन्त्री थे और लिच्छवि-विदेह राज्य-संघ में १८ मन्त्री थे। मन्त्रियों का चुनाव समिति करती थी। परराष्ट्र, कोष, न्याय, दंड, कर, व्यापार तथा उद्योग आदि प्रत्येक विभाग के लिए एक मन्त्री होता था। मन्त्रियों की अध्यक्षता में उनके विभाग के कर्मचारी काम करते थे।

भारतीय इतिहास में गण-राज्यों का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है। उनकी गौरव-गाथा अभी तक बहुत स्वल्प मात्रा में प्राप्त हो सकी है, पर इतना तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि जिस शासन-पद्धति का प्रचलन इन गण-राज्यों में हुआ था, उसके द्वारा इस देश की सर्वांगीण उन्नति तथा व्यक्तिगत विकास सम्भव हुए। सिकन्दर जैसे विजेता का सामना, जिस वीरता और अदम्य उत्साह के साथ इन गण-राज्यों ने किया, उसके आधार पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इन गण-राज्यों की नस-नस में देश-प्रेम, जाति-प्रेम और स्वातन्त्र्य की वह धारा बहती थी, जो इस देश के अभ्युदय के लिये परमावश्यक थी। नृप तन्त्रात्मक राज्य का सबसे बड़ा दोष था कि यदि राजा चरित्रवान् और उत्साही नहीं होता था तो सारा राष्ट्र दुर्बल और पतनोन्मुख हो जाता था। गण-राज्य इस दोष से सर्वथा मुक्त थे। गण-राज्यों का पारस्परिक मेल द्वारा संघ की स्थापना कर लेना और देश को आपत्तियों से सुरक्षित रखने का सामूहिक प्रयत्न करना प्रमुख विशेषता रही है।

आध्यात्मिक जीवन

दर्शन

संस्कृति के आदि काल से ही दर्शन का प्रारम्भ माना जा सकता है। मनुष्य ने देखा और बुद्धि से विवेचन करके सत्य की खोज की। यही दर्शन की परम्परा है। विचार और तर्क द्वारा निर्धारित परिपक्व परिणामों को तथा विचार करने की प्रणाली को दर्शन कहते हैं। मानव-जाति की उन्नति के लिये उसकी दार्शनिक शक्ति का अतिशय महत्त्व रहा है। यों तो प्रत्येक मनुष्य का अपना निजी दर्शन हो सकता है और वह प्रतिदिन के अनुभवों के आधार पर परिवर्तित हो सकता है, किन्तु महान् विद्वानों के द्वारा दर्शन की सुव्यवस्थित प्रणालियाँ भी निर्मित हुईं और वे प्राय: अपने मौलिक और विकसित रूप में सहस्रों वर्षों से प्रचलित रही हैं।

आज से लगभग ५००० वर्ष पहले सिन्धु सभ्यता के युग में जिस दार्शनिक पद्धति का प्रचलन हुआ, वह किसी न किसी रूप में अंशत: भारतीय दर्शन में समाविष्ट हो गई। उस समय लोगों ने देवी-देवताओं की कल्पना की थी। संभवतः वे किसी सर्व-शक्तिमान् विभूति की सत्ता से अखिल विश्व को अनुप्राणित मान कर ही उसके चिन्तन द्वारा तादात्म्य का अनुभव करते थे।

सिन्धु सभ्यता के पश्चात् वैदिक साहित्य में भारतीय दर्शन का जो बीज अंकुरित हुआ, वही आगे चल कर दर्शन की बहुविध

शाखाओं के रूप में विकसित हुआ। वैदिक दर्शन के प्रारम्भिक काल में ऋषियों ने अखिल विश्व को विभिन्न देवों के रूप में देखा। उन्होंने विश्व को पृथिवी, वायु-लोक और स्वर्ग-लोक में विभक्त माना और इन तीनों लोकों में प्रतिष्ठित देवताओं में मानवीय रूप-रेखा तथा प्रवृत्तियों का आरोपण किया।

उसी प्राचीन युग में आत्मा की अमरता मान ली गई थी। लोगों का ऐसा विश्वास था कि अपने पाप और पुण्य कर्मों का फल पाने के लिए मरने के पश्चात् मानव क्रमशः नरक और स्वर्ग में जाता है।

धीरे-धीरे अनेक देवताओं में एकता का दर्शन हुआ और प्रजापति अथवा ब्रह्म सारी सृष्टि के रचयिता माने गये। उसी समय एक-तत्त्व की कल्पना भी हुई। वही एक तत्त्व सृष्टि के पहले था। जिस समय कुछ भी नहीं था, उस समय वही एक था। उसी एक तत्त्व की तपः शक्ति से सृष्टि का समारम्भ हुआ अखिल विश्व की रचना का कारण और उपादान वही एक हुआ।

उपनिषद्-काल में ब्रह्म की सत्ता विषयक गम्भीर ज्ञान बीन हुई। उस समय ब्रह्म की सर्वमयता तथा 'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्म हूँ), तत्त्वमसि (तुम भी वही हो) की सुदृढ़ नींव पड़ी। देवताओं की प्रतिष्ठा कुछ कम हो चली। उनको भी ब्रह्म का अंश उसी भाँति माना गया जैसे मानवों को। उपनिषदों का ब्रह्म सत्, चित् और आनन्द था। इस प्रकार ब्रह्म भौतिक, मानसिक और भावनात्मक जगत् का महत्तम प्रतीक हुआ।

ब्रह्म से पंच महाभूत (पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश) का उद्भव हुआ है। इनमें से प्रत्येक के अपने-अपने

निजी गुण और विविध रूपों के धारण करने की क्षमता है। यही विविधता सृष्टि में प्रत्यक्ष होती है। प्रलय के समय उसी ब्रह्म में सबका पुनः समावेश हो जाता है।

उपनिषद् काल में दार्शनिक तत्त्वों की खोज के लिए तर्क के अतिरिक्त ध्यान, चिन्तन, योग, उपासना और समाधि को भी महत्त्वपूर्ण साधन माना गया। श्रद्धा और विश्वास मानव की कल्पना-परिधि को विस्तृत करने में सहायक हुए। ऐसी परिस्थिति में सत्य का निदर्शन विविध रूपों में किया जा सका।

ब्रह्म का जो स्थान ऊपर निरूपित किया गया है, कालान्तर से वही स्थान शिव और विष्णु को भी दिया गया। श्वेताश्वतर उपनिषद् में शिव को और श्रीमद्भगवद्गीता में विष्णु (कृष्ण) को सर्वोच्च देवाधिदेव मान कर उनकी भक्ति को मुक्ति का प्रधान सोपान बताया गया।

स्वभाववाद

स्वभाववाद में स्वभाव (प्रकृति) को ही सर्वेसर्वा मानकर स्वाभाविक प्रजनन की गति से सारी सृष्टि के विस्तार की व्याख्या की गई। इसमें ब्रह्म अथवा अन्य देवताओं का मानव-संसार से कोई सम्बन्ध नहीं माना गया। प्रत्यक्ष की सत्ता विश्वसनीय है ही, पर जो कुछ दृष्टिगोचर नहीं, वह न तो कोई कारण हो सकता है और गौण रूप से भी उसका कोई हाथ विश्व की किसी वस्तु में नहीं हो सकता। ऐसी परिस्थिति में मोक्ष, पुनर्जन्म और कर्म-फल आदि की भी स्वभाववाद में प्रतिष्ठा नहीं हो सकी। इस दर्शन के अनुसार जीवन में शारीरिक सुखों की यथासाध्य प्राप्ति को ही सर्वोच्च लक्ष्य ठहराया गया है।

आस्रव के द्वारा कर्म के परमाणु जीव को प्रभावित करते हैं। आस्रव का ठीक उलटा संवर है, जिससे कर्म जीव को प्रभावित नहीं कर पाते। कर्म से जीव का बँध जाना बन्ध है। निर्जरा के द्वारा कर्म के प्रभाव से जीव को छुटकारा मिलता है। कर्मों के सर्वथा नाश हो जाने पर मोक्ष प्राप्त होता है। जब तक मोक्ष नहीं मिलता, जीव का विभिन्न कोटियों में पुनर्जन्म होता रहता है।

उपर्युक्त दिशा में मानव के व्यक्तित्व के विकास के लिये ज्ञान की अतिशय उपयोगिता है। सब से उत्कृष्ट 'केवल' ज्ञान है। यह शुद्ध आत्मा का स्वभाव ही है। इसके द्वारा एक समय में ही, एक स्थान पर, प्रत्यक्ष रूप से तीनों काल और सभी लोकों का सारा ज्ञान प्राप्त हो जाता है। 'केवल' ज्ञान सर्वज्ञता है।

'केवल' ज्ञान के लिये प्रत्यक्ष और परोक्ष—इन दो प्रमाणों की आवश्यकता होती है। प्रत्यक्ष ज्ञान दो प्रकार का होता है—पारमार्थिक और सांव्यवहारिक। पारमार्थिक ज्ञान आत्मा का विषय है। इसके लिये इन्द्रियों की सहायता अपेक्षित नहीं है। सांव्यवहारिक ज्ञान के लिये इन्द्रियों की सहायता ली जाती है। परोक्ष ज्ञान के लिए स्मृति, प्रत्यभिज्ञान (पहचान), तर्क, अनुमान और आगम (आप्तवचन) की सहायता ली जाती है।

जैन-दर्शन में स्याद्वाद अनूठी वस्तु है। इसके द्वारा किसी पदार्थ का सर्वाङ्गीण और सापेक्ष ज्ञान सम्भव हो सकता है। ज्ञान प्राप्त करने के सात दृष्टिकोणों को स्याद्वाद कहते हैं। इसको सप्तभंगी न्याय भी कहते हैं। यदि कोई वस्तु अपने आप में वर्त्तमान है तो कहा जा सकता है कि वह 'स्यात् अस्ति';

पर यदि वही वस्तु किसी अन्य वस्तु की अपेक्षा से देखने पर नहीं है तो उस वस्तु के विषय में कहा जा सकता है—स्यात् नास्ति । यदि उपर्युक्त दोनों दृष्टियों से साथ ही उस वस्तु की परीक्षा की जाय तो वह 'स्यात् अस्ति स्यात् नास्ति' है । उदाहरण के लिये कोई घड़ा सामने वर्त्तमान है, वह पहले दृष्टिकोण से स्यात् अस्ति । वही घड़ा किसी अन्य वस्तु के उपादान, समय और स्थान से रहित है । धातु का बना हुआ, किसी अन्य स्थान पर, अन्य समय में अथवा अन्य आकार-प्रकार का वह घड़ा नहीं है । इस दृष्टि से वह 'स्यात् नास्ति' है । कोई घड़ा क्या है और क्या नहीं है—ये दोनों बातें साथ ही बताते समय तीसरे दृष्टिकोण 'स्यात् अस्ति स्यात् नास्ति' का उपयोग होता है । यदि घड़े के सम्बन्ध में कुछ भी न कहा जा सके तो उस दृष्टि-कोण को स्यात् अवक्तव्य कहेंगे । पहले के तीन दृष्टिकोणों के साथ चौथे दृष्टिकोण का संयोजित कर देने पर क्रमशः अन्तिम तीन दृष्टिकोण 'स्यात् अस्ति अवक्तव्य', स्यात् नास्ति अवक्तव्य' और 'स्यात् अस्ति नास्ति अवक्तव्य' बन जाते हैं ।

बौद्ध दर्शन

बौद्ध दर्शन के प्रमुख प्रवर्तक महात्मा गौतम बुद्ध का जन्म ५६७ ई० पू० में आधुनिक नेपाल के समीप कपिलवस्तु नगरी में शाक्य राजवंश में हुआ था । मानव जीवन की दुःखमयी घटनाओं को प्रत्यक्ष देख कर उन्होंने उस चिरन्तन सत्य की खोज आरम्भ की, जिससे मानवता के दुःख का अन्त हो जाय । गया में वट-वृक्ष के नीचे ध्यान करते हुये उन्हें बोधि प्राप्त हुई, जिससे उन्हें उस सत्पथ का ज्ञान हो गया, जो दुःख का अन्त कर सकता है । उनको इस सम्बन्ध में चार आर्य सत्यों का ज्ञान

हुआ—जीवन दुःख है, दुःख का कारण अविद्या है, दुःख से छुटकारा मिल सकता है और वह छुटकारा आष्टाङ्गिक मार्ग पर चलने से मिल सकता है।

गौतम बुद्ध को संसार में सर्वत्र दुःख ही दुःख दिखाई दिया। उनको केवल निर्वाण ही सुखावह प्रतीत हुआ। ऐसी परिस्थिति में बौद्ध दर्शन के अनुसार वह मनुष्य निरा मूढ है, जो नश्वरता और मृत्यु के पाश में फँसा हुआ सांसारिक भोग-विलास के चक्कर में पड़ा है। मृत्यु की छाया कब और कहाँ पीछा छोड़ती है ? गौतम ने प्रत्येक वस्तु को क्षणिक देखा। सुख, यदि परिश्रम के पश्चात् मिला भी तो केवल क्षण मात्र के लिए; युवावस्था आई तो उसे ठहरने के लिए भी क्षण-मात्र समय मिला। फिर सुख के पश्चात् दुःख का आना तो और भी उत्पीडक होता है। युवावस्था के भोग-विलासों के पश्चात् वृद्धावस्था की क्षीणता की अवश्यम्भावी कल्पना किसे शान्त रहने देगी ? गौतम ने समझाया कि ऐसा जीवन अभीष्ट नहीं, इससे छुटकारा पाने का उपाय है—निर्वाण। बुद्ध ने जीवन की भयङ्करता का चित्र सफलता से खींचा, पर साथ ही निर्वाण की जो सुखद कल्पना उन्होंने प्रस्तुत की वह मनोहारिणी है।

दुःख की उत्पत्ति के विषय में गौतम ने बताया कि तृष्णा ही दुःख उत्पन्न करती है। तृष्णा की उत्पत्ति अज्ञानवश होती है। ज्ञान-रूपी सूर्य के समक्ष तृष्णा की रात्रि नहीं ठहर सकती।

आत्मा के विषय में बुद्ध कुछ कहना नहीं चाहते थे। फिर भी उन्होंने यह तो बताया ही है कि आत्मा क्या नहीं है। बौद्ध दर्शन अनात्मवादी नहीं है। निर्वाण की अवस्था आत्मा ही की तो होती है।

निर्वाण का मौलिक अर्थ है बुझ जाना। बौद्ध दर्शन के अनुसार तृष्णा, घृणा और अज्ञान आदि का मिट जाना ही निर्वाण है। इसी परिभाषा को दृष्टि-पथ में रखते हुए कहा जाता है कि ३५ वर्ष की अवस्था में बुद्ध को निर्वाण की प्राप्ति हो गई थी। ऐसी निर्वाण की अवस्था वैदिक दर्शनों के अनुसार जीवन्मुक्ति है।

बौद्ध दर्शन के अनुसार ईश्वर का अस्तित्व नहीं है। इस दर्शन में ईश्वर की कहीं आवश्यकता नहीं पड़ती। कोई व्यक्ति अपने किये कर्मों का फल इस जन्म में और पुनर्जन्म में भोगता है। ऐसी परिस्थिति में ईश्वर का क्या महत्त्व है?

बौद्ध दर्शन में प्रत्यक्ष प्रमाण के साथ ही अनुमान प्रमाण की प्रतिष्ठा हुई है। शब्द प्रमाण को इस दर्शन में खोखला बताया गया है। वेद-वाक्यों की तो कहीं पूछ ही नहीं है। बुद्ध ने स्वयं कहा है कि मेरी बातों को भी यदि तर्क की कसौटी पर कस कर प्रमाणित मानो तभी उसे स्वीकार करो, अन्यथा नहीं।

न्याय-वैशेषिक दर्शन

न्याय-दर्शन का सर्वप्रथम ग्रन्थ गौतम का न्याय-सूत्र है। इसकी रचना संभवतः ई० पू० तीसरी शती में हुई थी। वैशेषिक दर्शन, जो बहुत कुछ न्याय से मिलता जुलता है, सर्वप्रथम कणाद के वैशेषिक सूत्रों में प्रतिष्ठित हुआ था। १२ वीं शती में मिथिला के महान् दार्शनिक गंगेश ने न्याय-दर्शन की प्रगति एक नई दिशा में की।

न्याय-दर्शन मानव को मुक्ति का मार्ग प्रस्तुत करता है। गौतम ने प्रथम सूत्र में लिखा है कि प्रमाण, प्रमेय, संशय,

प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रहस्थान के ज्ञान होने से मुक्ति मिल सकती है।

प्रमाण के द्वारा किसी वस्तु के वास्तविक रूप का ज्ञान होता है। न्याय के प्रमाण चार प्रकार के होते हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त होता है। अनुमान में इन्द्रियों की सहायता के अतिरिक्त कार्य-कारण आदि सम्बन्धों के पर्यालोचन की आवश्यकता पड़ती है। समानता या सादृश्य के द्वारा जो ज्ञान होता है, वह उपमान कोटि में आता है। आप्त (विश्वसनीय) लोगों की बातों से जो ज्ञान होता है, वह शब्द-प्रमाण है।

उष्ण जल को हाथ से छूकर उसकी उष्णता को जान लेना प्रत्यक्ष है। कोई पुस्तक देख कर यह जान लेना कि उसका कोई लेखक अवश्य होगा, अनुमान-प्रमाण से संभव होता है। अपनी घड़ी के समान कोई वस्तु देखकर उसको घड़ी जान लेना उपमान-प्रमाण है। किसी वृद्ध पुरुष के बताये हुए मार्ग को ठीक मान लेना शब्द-प्रमाण है। देखने में तो ये प्रमाण बहुत सरल प्रतीत होते हैं, पर इनकी सहायता से परमात्मा से लेकर विश्व की सभी छोटी-मोटी वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त कर लेना नैयायिकों के लिये संभव हुआ है।

प्रमेय बारह हैं—आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, पुनर्जन्म, फल, दुःख और मोक्ष। इस दर्शन में आत्मा का अस्तित्व माना गया है। आत्मा परमात्मा की कोटि की ही है।

संशय वस्तुओं या सिद्धान्तों के विषय में उत्पन्न हुआ सन्देह है। प्रयोजन मन, वचन या शरीर के विषय में होता है। दृष्टान्त

समानता या विषमता का उदाहरण है। सिद्धान्त प्रमाणभूत बातों को कहते हैं। अवयव वाक्य का अंश होता है। तर्क के द्वारा सन्देह मिटा कर ज्ञान प्राप्त किया जाता है। निर्णय तर्क के पश्चात् फल रूप में प्राप्त होता है। वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रहस्थान तर्क की पद्धति में उपस्थित होने वाली बाधायें हैं।

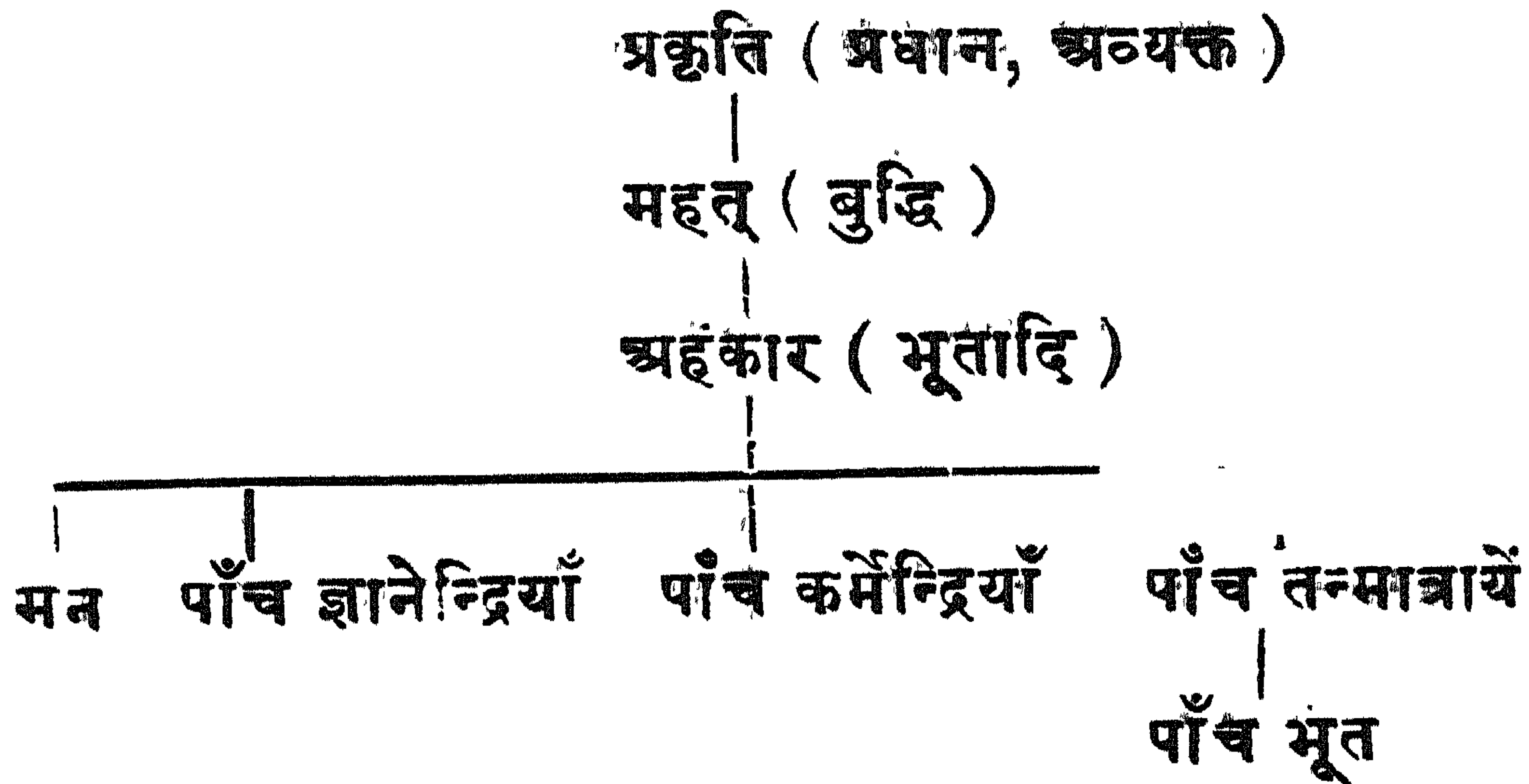
वैशेषिक दर्शन में प्रत्यक्ष और अनुमान केवल दो ही प्रमाण माने गये हैं। इन प्रमाणों के द्वारा नैयायिक पद्धति पर सात पदार्थ—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव का ज्ञान प्राप्त किया जाता है।

सांख्य और योगदर्शन

सांख्य और योग दर्शनों के आदि प्रवर्तक क्रमशः कपिल और पतंजलि माने जाते हैं। इन दोनों दर्शनों में बहुत कुछ समानता पाई जाती है। इन दोनों में प्रकृति और पुरुष सम्बन्धी तत्त्वान्वेषण तथा जीवन की मौलिक समस्याओं को सुलझाने के लिये समान पद्धति को स्वीकार किया गया है। सांख्य-दर्शन प्रधानतः ज्ञान-मार्ग से मानव के व्यक्तित्व के चरम विकास की योजना प्रस्तुत करता है। योग-दर्शन जीवन की पवित्रता और चिन्तन, मनन और निदिध्यासन के द्वारा उपर्युक्त उद्देश्य की पूर्त्ति करता है।

सांख्य दर्शन में चराचर विश्व की उत्पत्ति का मौलिक कारण प्रकृति को बताया गया है। प्रकृति एक है, वह त्रिगुणात्मिका है। प्रकृति के तीन गुण सत्त्व, रजस् और तमस् स्वभावतः एक दूसरे से सम्बद्ध हैं। उनका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं

है। सत्त्व, रजस् और तमस् क्रमशः ज्ञान, कर्म और मन्दता के कारण बनते हैं। त्रिगुणात्मिका प्रकृति का विकास होकर सृष्टि की रचना नीचे लिखे क्रम से होती है :—



प्रकृति का इस विविध रूप में विकसित होना परिणामवाद है। जब तक प्रकृति के गुण साम्यावस्था में पड़े रहते हैं, वे एक दूसरे के प्रभाव का प्रतिरोध करते हुए किसी प्रकार की गति नहीं होने देते। सन्तुलन की यह परिस्थिति विकास के पहले होती है; पर ज्योंही गुणों की मात्रा में किसी प्रकार असमानता आई कि उपर्युक्त विधि से विकास का आरम्भ होता है। यही युगीन सृष्टि का आरम्भ है। प्रलय के समय प्रकृति अपनी साम्यावस्था में पुनः आ जाती है। प्रकृति के सभी विकसित रूप प्रकृति ही के द्वारा समेट लिए जाते हैं।

प्रकृति के अतिरिक्त सांख्य के अनुसार पुरुष की सत्ता है। पुरुष त्रिगुणातीत, निर्विकार, शुद्ध, उदासीन, चैतन्य और विवेकी है। न तो वह कारण है और न कार्य ही। वह कोई क्रिया नहीं करता अपितु सर्वतन्त्र स्वतन्त्र है। प्रत्येक प्राणी का अलग-अलग पुरुष होता है।

ऐसी परिस्थिति में पुरुष और प्रकृति का गठबन्धन एकमात्र प्रकृति की ओर से संभव होता है। पुरुष को प्रकृति के पाश से मुक्त करने की माया भी प्रकृति की ही रची हुई है। वास्तव में पुरुष तो सदैव निष्क्रिय है; वह न तो बन्धन में पड़ता है और न मुक्त ही होता है। बन्धन और मोक्ष की धारणा पूर्णतः बनावटी और मिथ्या है।

सांख्य और योग दर्शनों में उपमान प्रमाण की प्रतिष्ठा नहीं की गई है। केवल प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द प्रमाण के द्वारा ही सभी प्रकार के सत्य और उनके विविध पक्षों का रहस्योद्घाटन संभव माना गया है। सांख्य और योग के अनुमान में 'सामान्यतोदृष्ट' पद्धति का अतिशय महत्त्व है। इसके अनुसार प्रत्यक्ष और लौकिक सादृश्य को दृष्टिपथ में रखते हुए अप्रत्यक्ष और अलौकिक सत्य का उद्घाटन संभव होता है। हम देखते हैं कि प्रत्येक वस्तु का कोई न कोई कर्त्ता होता है, अतः सृष्टि का भी कोई कर्त्ता होगा ही।

योग-दर्शन के अनुसार योग चित्त की वृत्तियों का निरोध है। इस निरोध के लिए योग के आठ अंग माने गये हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। यम, अहिंसा, सत्य, अस्तेय (अचौर्य), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह है। नियम के द्वारा शौच, सन्तोष, तपस्या, स्वाध्याय और ईश्वर—प्रणिधान (भक्ति) होते हैं। यम और नियम के द्वारा चरित्र का निर्माण होता है। जब तक किसी मनुष्य का चरित्र अच्छा नहीं हो जाता, वह न तो सत्य की खोज करने में सफल हो सकता है और न मुक्ति पा सकता है। इन्हीं दोनों के पूर्णरूप से सिद्ध हो जाने पर मानव-व्यक्तित्व का विकास हो जाता है।

आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार के द्वारा शरीर पर पूरा अधिकार संभव होता है। चित्त की प्रवृत्तियों पर तभी रोक लग सकती है, जब पहले शरीर पर वश हो जाय। चित्त प्रधानतः शरीर की आवश्यकताओं के लिये भ्रान्त होता है। आसन के द्वारा शरीर को बैठने की शिक्षा दी जाती है। प्राणायाम से श्वास-प्रश्वास की गति पर अधिकार प्राप्त होता है। इससे चित्त की स्थिरता संभव होती है। प्रत्याहार इन्द्रियों को उनके विषय से पराङ्मुख करने की प्रक्रिया है। इन्द्रियाँ प्रत्याहार के द्वारा अपने स्वाभाविक कर्मों से विरत हो जाती हैं।

धारणा, ध्यान और समाधि के द्वारा चंचल चित्त पर शनैः शनैः अधिकार प्राप्त हो जाता है। धारणा के द्वारा चित्त को एकाग्र स्थित करते हैं। धारणा चित्त की स्थिरता है। ध्यान धारणा की ही विकसित अवस्था है। ध्यान में चित्त किसी एक विषय के चिन्तन में लीन रहता है। ध्यान की विकसित अवस्था समाधि है। समाधि ही योग है। इस अवस्था में सांसारिक बाह्य वस्तुओं से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। ऐसी स्थिति जीवन के चरम विकास का द्योतक है। समाधि के दो क्रम हैं—सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात। सम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था में योगी को ज्ञात रहता है कि मैंने वह ज्ञान प्राप्त कर लिया है, जो मुक्ति के लिए आवश्यक है। इस अवस्था में वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता (मैं हूँ) का सहारा लेकर समाधि होती है। असम्प्रज्ञात समाधि में चित्तवृत्ति का सर्वथा लोप हो जाता है। अपने व्यक्तित्व और अस्मिता का ज्ञान नहीं रह जाता। असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त कर लेने वाले व्यक्ति को जीवन्मुक्त कहते हैं।

योग की मुक्ति कैवल्य कही जाती है। मुक्ति हो जाने पर पुरुष प्रकृति की माया से सदा के लिये मुक्त होता है। इस स्थिति में सांसारिक सम्बन्धों का होना असंभव है। मानव-शरीर पाने के लिए अविद्या का होना आवश्यक है। शरीर के साथ ही चित्त होता है। चित्त और शरीर पुरुष को सांसारिक भोग-विलासों में स्वभावतः डाल ही देते हैं।

पूर्व-मीमांसा

मीमांसा दर्शन का सर्वप्रथम परिचय ब्राह्मण साहित्य में मिलता है। वैदिक काल में यज्ञ-सम्बन्धी प्रक्रियाओं के रूप नियत करने में जो तर्क-वितर्क उपस्थित किये गये, उन्हीं से इस दर्शन का प्रादुर्भाव हुआ। ईसा से लगभग ३०० वर्ष पहले जैमिनि के द्वारा रचे हुए सूत्रों में मीमांसा दर्शन को सुव्यवस्थित रूप दिया गया। संभवतः सातवीं शती में कुमारिल भट्ट और प्रभाकर ने जैमिनि के सूत्रों की विशद व्याख्या लिखा।

मीमांसा दर्शन के अनुसार पदार्थ पाँच हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और अभाव।

प्रारम्भ में जैमिनि ने तीन प्रमाण प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द प्रतिष्ठित किये। प्रभाकर ने उपमान और अर्थापत्ति दो और प्रमाणों का समावेश किया। कुमारिल ने अनुपलब्धि नामक प्रमाण जोड़ा। इस प्रकार प्रमाणों की सब संख्या इस दर्शन में छः हो गई। मीमांसा दर्शन के प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द बहुत कुछ न्याय दर्शन के प्रमाणों से मिलते-जुलते हैं। अर्थापत्ति प्रमाण के द्वारा ऐसे सत्य की प्रतीति की जाती है, जो प्रत्यक्ष तो नहीं होता, पर उसके सत्य होने में किसी प्रकार का सन्देह हो ही नहीं सकता। यदि किसी परीक्षार्थी का नाम

सफल विद्यार्थियों की सूची में नहीं है तो उसकी असफलता के ज्ञान के लिये मीमांसक लोगों को अर्थापत्ति प्रमाण की आवश्यकता पड़ जायेगी। इस प्रमाण के द्वार, मीमांसा में मृत्यु के पश्चात् आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि की गई है। वेदों के अनुसार याज्ञिक कर्मों का फल भावी जीवन में मिलता है। फल पाने वाला तो यज्ञ कर्त्ता ही होगा, अतः भावी जीवन में वही यज्ञ-कर्त्ता फल पाता है। इस प्रकार शरीर छूटने के पश्चात् जो दूसरे शरीर में वर्त्तमान है, वह आत्मा है। अनुपलब्धि प्रमाण के द्वारा अभाव का ज्ञान होता है। यदि कभी रात्रि का अन्धकार हो तो सूर्य का अभाव जानने के लिये मीमांसा-दर्शन का अनुपलब्धि प्रमाण उपयोगी होगा।

मीमांसा-दर्शन में प्रारम्भ में ईश्वर की प्रतिष्ठा नहीं हुई। कुमारिल ने प्रमाण देकर सिद्ध किया है कि ईश्वर नहीं है। भला ऐसा विपत्तिमय संसार किसी ईश्वर नामधारी सत्ता की रचना हो सकता है! यदि ईश्वर ने संसार को बनाया तो ईश्वर को किसने बनाया? कुमारिल के तर्कों से ईश्वर का न होना तो कुछ समय के लिये मीमांसा-दर्शन में मान लिया गया, पर ईश्वर के बिना इस दर्शन का काम न चला। अन्त में ईश्वर की सत्ता मानी गई और उसके लिये भी यज्ञों का विधान बना।

ईश्वर की भाँति प्रारम्भ में मीमांसा दर्शन में मोक्ष की कल्पना भी नहीं की गई थी। पहले तो यज्ञों और पुण्य कर्मों के द्वारा स्वर्ग पा लेना मानव-जीवन का सर्वोच्च उद्देश्य बताया गया। आगे चल कर मुक्ति की प्राप्ति के लिये कर्मों से विरत होना आवश्यक बताया गया। जब तक कर्म किये जायेंगे, उनके अच्छे या बुरे फलों को भोगने के लिये स्वर्ग या नरक आदि

में जाना होगा। इस दर्शन के अनुसार मुक्तावस्था में आत्मा अपने प्राकृतिक रूप में पड़ी रहती है।

वेदान्त

वैदिक साहित्य की सारी दार्शनिक शिक्षाओं को वेदान्त नाम दिया गया है। वैदिक साहित्य के दार्शनिक ज्ञान का भंडार प्रायः उपनिषदों में मिलता है। वेदान्त प्रधानतः उपनिषदों का निचोड़ है। महर्षि बादरायण ने ई० पू० तीसरी या चौथी शती पूर्व में 'वेदान्त-सूत्र' नामक ग्रन्थ में इस दर्शन को व्यवस्थित रूप-रेखा प्रस्तुत की। आगे चल कर वेदान्त-दर्शन की तीन शाखायें विकसित हुईं—अद्वैत, विशिष्टाद्वैत और द्वैत। इनके प्रवर्तकों में क्रमशः शंकराचार्य, रामानुज और मध्व प्रमुख हैं।

शंकर के अद्वैत के अनुसार एक मात्र ब्रह्म की सत्ता है। वही ब्रह्म जगत और जीव दोनों रूपों में दिखाई देता है। दार्शनिक दृष्टि से जगत् ब्रह्म है। जिस प्रकार रात्रि के समय रस्सी को देख कर साँप की भ्रान्ति होती है उसी भाँति तात्त्विक दृष्टि न रखने वाले को जगत् की भ्रान्ति होती है। यह जगत् नहीं, वास्तव में ब्रह्म है। जीव को तात्त्विक दृष्टि से रहित व्यक्ति नहीं पहचान पाता कि यह ब्रह्म है। काला चश्मा लगा कर कोई मनुष्य दिन को भी रात समझ लेता है, क्योंकि प्रकाश और दृष्टि के बीच में चश्मा आ गया है। यही चश्मा उपधि है। जीव की उपधि अन्तःकरण (मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त) है। इस उपधि के कारण ब्रह्म जीव के रूप में दिखाई देता है।

वेदान्त-दर्शन में माया का वही स्थान है, जो सांख्य में प्रकृति का है। यही माया (अविद्या) जगत् का कारण है। माया ब्रह्म से भिन्न है। ब्रह्म सत् है और माया न तो सत् ही है

और न असत् ही। माया के साथ ही ब्रह्म भी जगत् का कारण है। माया और प्रकृति के मेल से जब जगत् की सृष्टि होती है तब ब्रह्म की सगुण सत्ता होती है। ब्रह्म को सगुण सत्ता की अवस्था में ईश्वर कहते हैं।

ब्रह्म, ईश्वर तथा माया आदि अपनी कोटि की विशिष्ट सत्तायें हैं। जीव इन्हीं तीनों का अंश है। वह ब्रह्म है, ईश्वर है और माया भी है; अन्तर केवल वही है, जो समुद्र की एक बूँद और समुद्र के सारे जल में होता है।

अद्वैत वेदान्त के अनुसार मानव-जीवन का सर्वोच्च उद्देश्य जीव और ब्रह्म की वास्तविक एकता का ज्ञान प्राप्त कर लेना है। इस ज्ञान का सबसे अधिक महत्व मानव के व्यक्तित्व के विकास के लिये है। ज्यों ही मानव को यह प्रतीति हो जाती है कि वह ब्रह्म है, उसकी लौकिक विचार-धारा भी असीम होकर अस्मिता और संकीर्णता के गढ़े को छोड़ कर विपुलता की ओर चल पड़ती है। मानव अपने ही में सीमित रह कर तुच्छ है, पर अपनी ब्रह्मवत् सत्ता को पहचान कर वह महान् है।

विशिष्टाद्वैत में वैष्णव दर्शन का उपर्युक्त वेदान्त के साथ सामंजस्य किया गया। रामानुज ने ११०० ई० के लगभग विशिष्टाद्वैत दर्शन को सुव्यवस्थित रूप दिया। रामानुज ने ब्रह्म, जीव और जगत् तीनों को सत् माना है पर इन तीनों को एक या एक कोटि का नहीं माना है। ये तीनों अलग-अलग हैं, पर हैं तीनों सम्बद्ध। यह सम्बन्ध विशेष्य-विशेषण का है। ब्रह्म विशेष्य है और जीव तथा प्रकृति उसके विशेषण हैं। ब्रह्म ऐसी परिस्थिति में अद्वैत तो अवश्य है, पर उसके दो विशेषण सदा उसके साथ रहते हैं और ब्रह्म की भाँति ही सत् हैं।

रामानुज के विशिष्टाद्वैत के अनुसार मानव-जीवन का सर्वोच्च उद्देश्य नारायण-लोक की प्राप्ति है। इस उद्देश्य की पूर्त्ति के लिये प्रपत्ति और भक्ति दो मार्ग हैं। प्रपत्ति मार्ग में ज्ञान प्रधान है। इसमें पूर्ण रूप से आत्म-समर्पण अपेक्षित है। भक्ति-मार्ग की तीन शाखायें हैं—कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्ति-योग। कर्मयोग में भगवान् को समपर्ण करके निष्काम कर्म करने की आवश्यकता पड़ती है। ज्ञान-योग में आत्मा और परमात्मा का क्रमश: ज्ञान प्राप्त करना पड़ता है। ज्ञान प्राप्त करने के लिए ध्यान और समाधि का आश्रय लेना पड़ता है। भक्ति-योग में सदैव परमात्मा का ध्यान अपेक्षित है। इस भक्ति का आधार ज्ञान है और यह उपनिषदों की उपासना के समकक्ष है।

द्वैत-वेदान्त-दर्शन में भी नारायण या विष्णु की प्रतिष्ठा हुई है और उनको परमात्मा माना गया है। परमात्मा की शक्ति लक्ष्मी की भी इस दर्शन में कल्पना हुई है। लक्ष्मी परमात्मा से भिन्न; पर उसके अधीन है। वह परमात्मा ही के समान गुणों वाली है परमात्मा के सभी गुण उसमें नहीं है। मध्व के अनुसार जीव और परमात्मा की एकता नहीं है। परमात्मा, जीव और जगत् सभी समान रूप से सत्य हैं तथा मुक्त होने पर भी जीव और परमात्मा की एकता नहीं सम्भव होती है। यही मध्व का द्वैत है। मध्व ने भी भक्ति के द्वारा ही जीव की मुक्ति बताई है।

धर्म

अखिल विश्व में जो कुछ है उसका किसी न किसी प्रकार मानव से सम्बन्ध है। दर्शन के द्वारा मानव उनका पूर्ण रूप से ज्ञान प्राप्त करता है। वस्तुओं का वास्तविक रूप जाने बिना उनका सफल और सर्वोत्तम उपयोग असंभव ही है। वस्तुओं

का ज्ञान हो जाने पर मानव नियत करता है कि किस वस्तु का किस प्रकार उपयोग किया जाय और किस वस्तु को क्या मान्यता प्रदान की जाय। यही धर्म है। धर्म के क्षेत्र में कुछ ऐसी बातों का समावेश भी मिलता है, जिसका दार्शनिक चिन्तन से कोई सम्बन्ध नहीं प्रतीत होता है। ऐसी बातें समाज के अन्ध विश्वास पर आधारित हैं और उनका प्रचलन भी लकीर पीटने वालों की मनोवृत्ति का द्योतक है।

भारत का प्राचीन धर्म व्यक्तिगत सुख और शान्ति के लिये ही नहीं था अपितु उसके द्वारा समष्टिगत अभ्युदय की योजना का भी निर्माण हो सका था। धर्म सारे समाज को उन्नति के पथ पर अग्रसर कराने के लिए ही अपनाया गया था। चाहे कोई भी धर्म क्यों न रहा हो, तत्सम्बन्धी दर्शन के आधार पर उसका मूल सिद्धान्त रहा है—'यथैवात्मा परस्तद्वद्द्रष्टव्यः सुखमिच्छता' अर्थात् सुख पाने की इच्छा रखने वाला पुरुष दूसरे को अपने समान ही समझे। इस तत्त्वज्ञान के आधार पर ही 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्' को धर्म का सर्वस्व माना गया था। भारतीय समाज धर्म की इस पद्धति पर आचरण करते हुए सुदृढ़ और सुव्यवस्थित था।

इस देश में प्राचीन काल से ही जीवन के चार पुरुषार्थ माने गये हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इनमें से धर्म का महत्त्व सबसे बढ़ कर समझा गया है। धर्म के द्वारा ही मोक्ष को प्राप्ति होती है तथा अर्थ और काम की सिद्धि भी होती है। धर्म की इसी प्रवृत्ति को दृष्टि में रखते हुए कहा गया है—यतोऽभ्युदय-निःश्रेयस-सिद्धिः स धर्मः। धर्म इस जीवन में ही सहायक नहीं माना गया है, अपितु मरने के पश्चात् भी केवल धर्म ही

साथ देने वाला कहा गया है। यदि अर्थ और काम धर्म के विरुद्ध हों तो वे परित्याज्य हैं।

भारतीय धार्मिक परम्परा का प्रसार केवल भारत की सीमाओं तक ही नहीं रहा, अपितु समग्र एशिया को भारत से ही धार्मिक प्रकाश मिलता था। पश्चिमी एशिया में रूस की सीमा तक तथा दक्षिण में फारस तक हिन्दू और बौद्ध धर्मों का प्रसार हुआ।

आज से लगभग ५००० वर्ष सिन्धु-सभ्यता में जिस धर्म का उदय हुआ था वह किसी न किसी रूप में आज भी भारतीय धर्म में निहित है। उस समय लोग मातृ-देवी की मूर्ति बना कर उसे पूजते थे। शक्ति की पूजा, जो आगे चलकर प्रचलित हुई, मातृ-देवी की पूजा की ही विकसित परम्परा प्रतीत होती है। इसमें सृष्टिकारिणी शक्ति को माता माना गया है। शिव के पशुपति रूप की कल्पना भी उस समय हो चुकी थी। उस समय के योग-मुद्रा में शिव पशुओं से घिरे हुए दिखाये गये हैं। उनके तीन मुख और दो सींग भी अङ्कित किये गये हैं। तत्कालीन शिव-लिंग आज कल के शिव-लिंगों के समान ही हैं। उस समय पत्थर, वृक्ष और पशुओं को दिव्य शक्तियों का प्रतीक मान कर पूजा जाता था। इसी के साथ ही नाग और यक्षों की कल्पना भी हुई।

उस समय के लोगों को शारीरिक स्वच्छता का विशेष ध्यान था। उनके नगरों में अनेक कुयें और स्नानागार सार्वजनिक उपयोग के लिये बने हुए थे। धार्मिक उत्सवों में नृत्य और संगीत का आयोजन होता था। तत्कालीन नागरिक सभ्यता को देख कर ऐसा प्रतीत होता है कि लोगों में सत्य, सहानुभूति,

सहिष्णुता आदि मानवता के सर्वोच्च आदर्शों की प्रतिष्ठा हो चुकी थी।

सिन्धु-सभ्यता के युग में शव का अन्तिम संस्कार तीन विधियों से किया जाता था। कुछ लोग शव को सीधे गाड़ देते थे, दूसरे लोग शवों को पशु-पक्षियों का भोजन बनने देते थे और बचा-खुचा भाग गाड़ते थे। कुछ लोग ऐसे भी थे जो शव को जला-कर उसकी राख गाड़ते थे।

वैदिक दर्शन के अनुसार प्रकृति की विभिन्न चमत्कारिणी सत्तायें देवता मान ली गई थीं। लोगों ने इन सब में लोकोपकार और अलौकिक शक्ति का दर्शन किया था। उनमें लोगों की श्रद्धा जागरित हो चली थी। उन्होंने मुक्त कण्ठ से अपने देवताओं की स्तुति की और उनको सन्तुष्ट करने के लिए विविध प्रकार के यज्ञों का विधान किया।

देवताओं के चरित के आधार पर उस समय के महापुरुषों ने अपने जीवन में ऋत (सत्य), सहानुभूति, क्षमा, निर्भीकता, वीरता, आदि गुणों को अपनाया।

वैदिक काल के सर्वप्रथम धार्मिक देवता वरुण हैं। वरुण ऋत के संरक्षक हैं। धार्मिक भावनाओं का जागरण वरुण के अनुशासन से ही संभव माना गया है। लोग अपने पापों से मुक्ति पाने के लिए वरुण की कृपा की याचना करते थे। इन्द्र वैदिक काल के लोक-संरक्षक देवता हैं। इन्होंने आर्य जाति के कल्याण के लिये अनेक पराक्रम किये। अग्नि-देवता मानवों के यज्ञों में समर्पित किये हुए अन्न को देवताओं तक वहन करता है। देवताओं की तृप्ति के लिए अग्नि में हवि डाली जाती थी। उस समय ब्रह्मा, विष्णु और शिव को उतना महत्त्व नहीं दिया गया था, जितना आगे चलकर पौराणिक काल में।

यज्ञ के लिए विविध प्रकार के पुरोहित नियुक्त होते थे। प्रत्येक पुरोहित का अपना विशिष्ट काम होता था। यज्ञों में देवताओं और पितरों के लिए दूध, घी, सोमरस आदि समर्पित किये जाते थे।

वैदिक काल का मानव अपने जीवन का अभ्युत्थान तप और सदाचार के द्वारा मानता था। इन्हीं के बल पर वह स्वर्ग-लोक पाने की कामना करता था।

उपनिषद् काल की धार्मिक परम्परा का आधार तत्कालीन दर्शन था। उस समय ब्रह्म की सर्वोपरि सत्ता मानी गई। ब्रह्म की अद्वितीय सत्ता के प्रति श्रद्धा हो जाने पर भारतीय चरित्र में अनुपम तेजस्विता और उत्साह की प्रतिष्ठा हुई। ब्रह्मज्ञानी पूर्ण रूप से निर्भय हुआ। भय तभी तक संभव होता है, जब तक यह विश्वास होता है कि मेरे अतिरिक्त कोई दूसरा भी है। किसी अन्य से ही डरा जा सकता है, पर ज्यों ही ज्ञात हुआ कि एक मात्र ब्रह्म ही सत् है, सभी ब्रह्म हैं, कोई दूसरा है ही नहीं, तभी ब्रह्मज्ञानी निर्भीक हुआ।

धीरे-धीरे ब्रह्मज्ञानियों के समाज में यज्ञ का महत्त्व घटा। छान्दोग्य उपनिषद् में धर्म के तीन स्कन्ध माने गये हैं—प्रथम यज्ञ, अध्ययन और दान है, जिसका पालन गृहस्थाश्रम में होता था, द्वितीय तप है जो वानप्रस्थ में अपनाया जाता था, तृतीय आचार्य कुल में निवास करना है, यह ब्रह्मचर्याश्रम में संभव होता था।

उपनिषद् काल में रमणीय आचरण से ही ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य की रमणीय योनियाँ सुलभ बताई गई हैं। उपनिषदों के अनुसार कुत्सित आचरण वाले लोग कुत्ते, सूअर या चाण्डाल योनि में जन्म पाते हैं।

ब्रह्मज्ञान साधारण लोगों की बुद्धि से सदा ही परे रहा है। उपनिषद्-काल में जो साधारण जनता वैदिक कर्म काण्डों से ऊब उठी थी, वह भक्तिमार्ग की ओर बढ़ी। वैदिक काल के रूद्र (पशुपति, महादेव, शिव आदि) और विष्णु (नारायण, वासुदेव, कृष्ण आदि) उनके प्रमुख उपास्य देव हुए।

उपनिषद् काल के पश्चात् साधारण जनता का धर्म अधिक महत्त्वपूर्ण हो चला। सकुटुम्ब शिव तथा कृष्ण की भक्ति में मग्न जनता जल, वृक्ष, पौधों तथा पशुओं में भी शक्तिशाली एवं अलौकिक देव-कोटि की सत्ताओं का अस्तित्व मान कर उनकी पूजा करने लगी। गंगा और कल्पवृक्ष की महिमा तभी से बहुत बढ़ी। देवताओं की मूर्तियाँ बनाकर अपने अभीष्ट मनोरथ की सिद्धि के लिए उनकी पूजा करने का प्रचलन इसी युग से आरम्भ होता है। कुछ देवताओं की सन्तुष्टि के लिए पशु-बलि का विधान था, पर धीरे-धीरे हिंसा के प्रति साधारण लोगों में घृणा का भाव जागरित हो रहा था। इसी युग में पुनर्जन्मवाद और कर्म-फल की इस लोक और परलोक में प्राप्ति के सिद्धान्त की विशेष रूप से चर्चा हुई। अनादि काल से अविरत गति से चलायमान सृष्टि में प्राणियों के कर्मों के अनुसार उनका सर्जन, संहार और पुनर्जन्म होते हैं। कर्म-फल की प्राप्ति के विषय में कहा गया है—जिस प्रकार कोई बछड़ा सहस्रों गायों में भी अपनी माँ को पहचान लेता है, उसी प्रकार पूर्व जन्म के कर्म भी अपने कर्त्ता को ढूँढ़ ही लेते हैं।

पूर्व जन्म के कर्मों के फल से मुक्ति पा लेना ईश्वर की कृपा से ही सम्भव होता है। इसके लिये ईश्वर की भक्ति होनी चाहिये। भागवत धर्म की स्थापना इसी सिद्धान्त को लेकर हुई। इसका प्रवर्तन वसुदेव के पुत्र वासुदेव (कृष्ण) ने की थी।

'गीता' भागवत धर्म का प्रमुख ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में ज्ञान और वैराग्य के सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा तो की गई है, पर कर्म-योग को लौकिक अभ्युदय और मुक्ति के लिए सर्वश्रेष्ठ साधन माना गया है। अन्त में भक्ति को मानव की परम शान्ति के लिए आवश्यक बताया गया है। भागवत धर्म में नवीनता तो अवश्य थी, पर प्राचीन वैदिक धर्म से उसका सामञ्जस्य कराने का सफल प्रयास तत्कालीन साहित्य में मिलता है।

महाभारत में दुर्गा की पूजा का उल्लेख है। दुर्गा-पूजा आगे चल कर शक्ति-पूजा के रूप में विकसित हुई। शक्ति के उपासक शाक्त कहलाये। गुप्त-काल में दुर्गा-पूजा का प्रचार विशेष रूप से बढ़ा। शैव और वैष्णव सम्प्रदायों की भाँति शक्ति-सम्प्रदाय भी लोकप्रिय हुआ। इस सम्प्रदाय में वीभत्स और भयंकर विधानों के द्वारा दुर्गा या चण्डिका देवी को सन्तुष्ट करने की विधि प्रचलित रही है। मानव का बलिदान करके भी देवी को प्रसन्न करने का आयोजन किया जाता था। कुछ सुसंस्कृत लोग दुर्गा की पूजा मानवोचित ढंग से भी करते थे और केवल पत्र, पुष्प, फल तथा मिठाइयों का नैवेद्य समर्पित करके दुर्गा को प्रसन्न करते थे।

जैन धर्म

जैन धर्म के चौबीसवें तीर्थङ्कर महावीर, छठीं शती ई० पू० में हुए। महावीर के पहले ८ वीं शती में तेइसवें तीर्थङ्कर पार्श्व हुए। उन्होंने स्रावकों के लिए अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना) और अपरिग्रह अणुव्रतों की प्रतिष्ठा की थी। महावीर ने ब्रह्मचर्य को उपर्युक्त व्रतों के साथ जोड़ दिया। उन्होंने निर्वाण (मुक्ति) पाने के लिये सब कुछ छोड़ देने का विधान बनाया। वस्त्रों तक को न पहनने का विधान महावीर ने बनाया।

जैन धर्म में सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र जीव या आत्मा के तीन स्वाभाविक गुण माने गये। इन्हीं तीन के सतत अभ्यास से मानव अपने व्यक्तित्व का विकास करके निर्वाण की अवस्था प्राप्त करता है। निर्वाण प्राप्त कर लेने पर आत्मा निर्विकार और परम शुद्ध हो जाती है। निर्वाण की प्राप्ति के लिये कर्म के फलों का क्षय हो जाना आवश्यक है। यह पुण्य कर्मों से नहीं मिल सकता क्योंकि पुण्य कर्मों से सांसारिक सुख और वैभव की प्राप्ति होती है अथवा स्वर्ग में स्थान मिल सकता है। निर्वाण के लिए कर्म से विरत होना और संसार का परित्याग करके संन्यास लेना आवश्यक है।

जैन-धर्म की प्रधान रूप से दो शाखायें रही हैं—श्रावक अथवा गृहस्थ धर्म तथा मुनि अथवा संन्यास धर्म।

श्रावक धर्म में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अरिपग्रह और ब्रह्मचर्य को महत्वपूर्ण स्थान मिला। लौकिक अभ्युदय और सामाजिक अभ्युत्थान की दृष्टि से इन व्रतों की अतिशय उपयोगिता है। जैन धर्म की अहिंसा केवल शस्त्र से चोट न पहुँचाने तक ही सीमित नहीं थी। इस अहिंसा का सम्बन्ध मानव जीवन के विविध कर्तव्यों से था। छेदना, बाँधना, पीड़ा पहुँचाना, बहुत बोझ लादना, और खाना-पीना रोकना आदि सब हिंसा के अन्तर्गत आते हैं। मदिरापान भी हिंसा ही है। मदिरा में असंख्य जीव होते हैं, जिनकी हिंसा मदिरापायी नित्य करते हैं। सत्य नामक अणुव्रत में निन्दा करना, इधर की बातें उधर करना आदि भी आते हैं। अस्तेय में चोरी का उपाय बताना, चोरी का माल लेना, व्यापारिक वस्तुओं में मिलावट करना, राजा की आज्ञा न मानना, बटखरे और तुला में गड़बड़ी करना

आदि आते हैं। ब्रह्मचर्य के अनुसार केवल शरीरतः ही नहीं, अपितु मन से भी अनुचित काम वासनाओं का परित्याग करना चाहिए। अपरिग्रह में सांसारिक और अधिभौतिक सुखों के लिये साधन जुटाने के चक्कर में न पड़ने की शिक्षा दी गई। दूसरे के धन के लिये किसी प्रकार की इच्छा रखना तो पाप माना ही गया, अपने धन में भी ममता रखना बुरा बताया गया।

जैन मुनियों का धर्म अत्यन्त कठोर है। मुनि-धर्म प्रायः तपोमय जीवन-चर्या है। इसमें २२ परीषह मुनियों के जीतने के लिए नियत किये गये हैं। परीषहों की कल्पना कुछ-कुछ इस प्रकार है—भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी आदि के निवारण के लिए अत्यधिक प्रयत्न न करना और न उनसे व्याकुल ही होना, शरीर के मलिन होने पर भी स्नान न करना, कण्टक अथवा मच्छर आदि से कष्ट पाने पर भी उनका निवारण न करना, मारे जाने अथवा बाँधे जाने पर भी अत्याचारी पर क्रोध न करना आदि।

मानव-व्यक्तित्व के विकास की दृष्टि से जैन-धर्म में जीव की १४ कोटियाँ मानी गई हैं, जिन्हें गुण-स्थान कहते हैं। पहले गुण-स्थान का मनुष्य मिथ्या अथवा मायात्मक जगत् में ही लीन होता है। दूसरे गुण-स्थान में वह इस परिस्थिति से कुछ-कुछ ऊपर उठता है और सत्पथ की ओर उसकी प्रवृत्ति होती है। तीसरे गुण-स्थान में वीतरागों की बातें भी सुनता है और कभी-कभी पाखण्डियों के चक्कर में भी पड़ जाता है। चौथे गुण-स्थान में वह सर्वज्ञ के उपदेश को अपना लेता है, पर इन्द्रियों के भोग-विलास में लगा ही रहता है। पाँचवाँ गुण-स्थान श्रावक का है जो पाँच अणुव्रतों को अपना लेता है। इसी

क्रम से अपने व्यक्तित्व का विकास करते-करते मानव की आत्मा पूर्ण रूप से शुद्ध हो जाती है और अन्त में निर्वाण की प्राप्ति होती है।

जैन धर्म में श्वेताम्बर और दिगम्बर दो शाखायें महावीर की मृत्यु के लगभग दो सौ वर्ष पश्चात् प्रचलित हुई। दिगम्बर मौलिक धर्म के अनुयायी थे और तपोमय कठोर जीवन के पक्षपाती थे, पर श्वेताम्बर श्वेत वस्त्र धारण करते थे। इन दोनों शाखाओं का मतभेद सदा ही बढ़ता रहा।

बौद्ध धर्म

महावीर के समकालीन गौतम बुद्ध ने बौद्ध धर्म का प्रवर्तन ई० पू० छठीं और पाँचवीं शतियों में किया। गौतम ने अपनी युवावस्था में चार साधारण दृश्य देखे—वृद्ध पुरुष, रोगी पुरुष, मृत पुरुष और परिव्राजक (संन्यासी)। इनको देखने से उन्हें सांसारिक भोग-विलासों की निस्सारता का प्रत्यक्ष अनुभव हुआ। सारा जगत् उन्हें मायात्मक प्रतीत हुआ। उन्होंने मन में सोचा—आज तो कोई नौजवान है, वही कभी बूढ़ा होकर दुःखी है; आज का स्वस्थ पुरुष कल रोगी होकर दुःखी है; आज का वैभवशाली पुरुष कल मर कर वैभवविहीन हो जाता है और उसका नाम लेने वाला भी कोई नहीं रह जाता। उन्हें सारा संसार दुःख से सन्तप्त दिखाई पड़ा। अन्तिम दृश्य में, जो परिव्राजक उन्हें दिखाई पड़ा था, वह उनके हृदय में आशा का संचार करने लगा। उन्होंने देखा कि यह मनुष्य संसार के भोग-विलासों में आसक्त न होकर असाधारण जीवन बिता रहा है, जिससे संसार के दुःख की धारा से छुआछूत भी न हो। उन्होंने निश्चय किया 'मैं भी सांसारिक दुःखों से मुक्ति पाऊँगा।'

कई वर्षों के निरन्तर प्रयास के पश्चात् गौतम बुद्ध ने दुःख से छुटकारा पाने का मार्ग ढूँढ़ निकाला। इस मार्ग को धर्मयान या आष्टाङ्गिक मार्ग कहते हैं। आष्टाङ्गिक मार्ग सम्यक् दृष्टि (दुःख के कारण और उनको दूर करने के उपायों को सच मानना), सम्यक संकल्प (इन्द्रियों के भोग, ईर्ष्या और द्रोह का त्याग), सम्यक् वाणी (झूठ, पर-निन्दा, कटु वचन और अतिभाषण का त्याग), सम्यक् कर्मान्त (हिंसा, चोरी और पाप कर्मों का त्याग), सम्यक् आजीविका (बुरे व्यवसायों का त्याग करके अच्छे व्यवसायों के द्वारा जीविकोपार्जन करना), सम्यक् व्यायाम (अपने अभ्युदय के लिए ही अपनी शक्तियों का उपयोग करना), सम्यक् स्मृति (सदैव सावधान रहकर स्वयं पतन के मार्ग से बचना और अपने मन को अच्छे कामों में लगाना) और सम्यक् समाधि (समाधि और ध्यान के द्वारा शान्ति पाना) है। इस मार्ग के द्वारा मनुष्य के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास हो पाता है, वह शुद्ध और बुद्ध होकर निर्वाण प्राप्त करता है। कामनाओं से छुटकारा पा जाना निर्वाण है। कामनाओं से मुक्त पुरुष आनन्द पाता है। कामनायें दुःख हैं। गौतम ने मानव को उपदेश दिया—सृष्टि में जो कुछ है वह नश्वर है, अप्रमादी बन कर मुक्ति प्राप्त करो।

उपर्युक्त आष्टाङ्गिक मार्ग पर चलने की योग्यता तभी आ सकती है, जब मनुष्य दस शिक्षा-पदों को अपना ले। शिक्षा-पद इस प्रकार हैं—प्राणातिपात (हिंसा), अदत्तादान (चोरी), अब्रह्मचर्य, असत्य, सुरापान, विकाल (सन्ध्या) भोजन, नृत्य-गीत-वाद्य-प्रदर्शन, माला-गन्ध-विलेपन-धारण-मण्डन-विभूषण, उच्चाशयन-महाशयन और स्वर्ण-रजत आदि का संग्रह—इन दस से विरत रहना।

वैदिक और जैन धर्म की भाँति बौद्ध धर्म में भी पुनर्जन्म और कर्मफल की प्रतिष्ठा की गई। जैनों की भाँति बौद्ध आचार्यों ने भी वेदों और तत्सम्बन्धी यज्ञ तथा कर्मकाण्ड को निस्सार बताया। बौद्ध धर्म में मध्यमा प्रतिपदा की सीख दी गई। इसके अनुसार न तो शरीर को अनावश्यक कष्ट देना उचित माना गया और न भोग-विलास में ही लिप्त रहना ठीक समझा गया। साधारण जीवन बिताने वाला मानव बौद्ध धर्म के आष्टाङ्गिक मार्ग का अनुसरण कर सकता था। स्वयं गौतम बुद्ध ने भिक्षुओं के रहने के लिये विहार तथा उपयोग के लिये कुर्सी, चौकी, चारपाई, तकिया चटाई, ओसारा, चबूतरा, वस्त्र, सुई, तागा, अरगन, मसहरी इत्यादि को उचित ठहराया। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा कि भिक्षुओं को विलास और क्लेश दोनों की अधिकता से बचना चाहिये।

समय बीतने पर गौतम बुद्ध को देवता माना जाने लगा। कनिष्क के समय में उन्हें देवातिदेव की उपाधि दी गई। वैष्णव या भागवत धर्म के विष्णु की भाँति उनके अवतारों की कल्पना की गई। अवतार मानवता को ज्ञान देने के लिये तथा दुःख-निवारण करने के लिए होते हैं। इसी समय बौद्ध धर्म की महायान-शाखा विकसित हुई। मौलिक बौद्ध धर्म हीनयान रह गया। हीनयान में कोई मनुष्य केवल अपने व्यक्तिगत निर्वाण के लिये प्रयत्न कर सकता है, पर महायान के अनुसार अनेक बार जन्म लेकर भी सभी प्राणियों की निर्वाण-प्राप्ति का यत्न किया जाता था। इस प्रकार हीनयान महायान की तुलना में हीन सिद्ध होता है। नागार्जुन ने महायान-शाखा के सिद्धान्तों का विशद विवेचन करके उसे प्रतिष्ठित किया था।

महायान, शैव और वैष्णव धर्मों का एक दूसरे पर प्रभाव पड़ा। तीनों धर्मों में मन्दिर और मूर्तियों की स्थापना और पूजा होती थी। वैष्णव धर्म के अनुसार गौतम बुद्ध भी विष्णु के अवतार माने गये। दोनों धर्मों के निकट सम्पर्क में आने पर समानता ही के कारण बौद्ध धर्म वैष्णव धर्म में अन्तर्हित होने लगा। बौद्ध धर्म की वज्रयान शाखा के तान्त्रिक शैव और शाक्त मतावलम्बियों के प्रायः समान ही थे।

गुप्त काल में राजाओं और ब्राह्मण-पुरोहितों के वैदिक धर्म के साथ ही साथ साधारण जनता का भक्ति-मार्ग बहुत लोकप्रिय हुआ। गीता में बताई हुई वैष्णव भक्ति और श्वेताश्वतर उपनिषद् में प्रतिष्ठित शैव भक्ति की पद्धति पर चलने वाले लोगों की संख्या बढ़ती गई। इस भक्ति-मार्ग का सबसे अधिक प्रभावशाली रूप आज भी उस समय के बने हुए मन्दिरों और गुफाओं की मूर्तियों से लग सकता है। जैन और बौद्ध सम्प्रदायों में भी उस समय धार्मिक मूर्तिकला का विकास हुआ। इन देवताओं के अतिरिक्त सूर्य की उपासना का विशेष प्रचार इस समय बढ़ा।

आठवीं शती में शंकराचार्य के प्रयास से शैव धर्म का प्रसार सारे भारत में हुआ। उन्होंने शृंगेरी (मैसूर में), द्वारका, पुरी और बदरीनाथ में धर्म के संस्थापन के लिए मठों की स्थापना की।

धार्मिक सहिष्णुता

प्राचीन भारत धार्मिक सहिष्णुता के लिये विख्यात था। प्रत्येक धर्म में अन्य धर्मों की अच्छी बातों का समावेश कर

लिया जाता था। सभी धर्मों में प्राणिमात्र पर दया, विश्व-बन्धुत्व, सत्य, अहिंसा और आचार-विचार की शुद्धता को सर्वप्रथम स्थान दिया गया, समान रूप से महापुरुषों की प्रतिष्ठा की गई और व्रत तथा उपवास के द्वारा शारीरिक और मानसिक शुद्धता संभव बताई गई। इस प्रकार धार्मिक सहिष्णुता की जड़ में सभी धर्मों की वास्तविक एकता प्रधान रही है।

घृणा को किसी धर्म ने नहीं अपनाया, ऐसी परिस्थिति में किसी दूसरे धर्म के प्रति द्वेषभाव रखना किसी धर्म ने नहीं सिखाया है। अनेक राजाओं ने अपने धर्म से भिन्न धर्मों को भी आगे बढ़ाया। कई राजाओं का धर्म तो आज तक भी निश्चित नहीं हो सका है क्योंकि अनेक धर्मों के प्रति उनकी समान आस्था थी। महाकवियों ने भी विभिन्न धर्मों को समान मान कर अपनी रचनाओं में उन्हें प्रतिष्ठित किया। विद्यालयों में विभिन्न धर्मों के ग्रन्थों का अध्ययन-अध्यापन कराया जाता था। वास्तविक विद्वान् भी विभिन्न धर्मों का निष्पक्ष भाव से अध्ययन करता था। मन्दिरों में विभिन्न धर्मों के देवताओं की प्रतिष्ठा साथ ही होती थी। एक ही कुटुम्ब में विभिन्न धर्मों के मानने वाले लोग प्रेमपूर्वक रह लेते थे।

वाङ्मय

भाषा

यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि संस्कृति के आदि काल में भारत में कौन-कौन सी भाषायें किस-किस भूभाग में बोली जाती थीं। अभी तक नहीं ज्ञात हो सका है कि इन भाषाओं का विकास किस दिशा में हुआ अथवा इनमें किस प्रकार के काव्य और साहित्य की रचना हुई। अवश्य ही असंख्य मनोरम कहानियों और गीतों का प्रवाह उन भाषाओं में रहा होगा। भाषा और साहित्य सम्बन्धी तत्कालीन उत्थान का परिचय पा लेना प्रायः असम्भव सा है।

आज से लगभग ५००० वर्ष पहले भारत में सिन्धु-सभ्यता का जो विकास हुआ था, उसकी भाषा का लिपिबद्ध रूप अब भी मिलता है। अभी तक वह लिपि पढ़ी नहीं जा सकी है। ऐसी परिस्थिति में तत्कालीन भाषा-सम्बन्धी उन्नति का परिचय नहीं मिल सका है।

भारतीय भाषा का प्राचीनतम रूप, जिसका साहित्य वर्त्तमान है, वेदों में सुरक्षित है। वेद, केवल भारत में ही नहीं, सारे संसार में प्राचीनतम साहित्य के प्रतिनिधि हैं। सर्वोच्च साहित्य को कण्ठस्थ करने की रीति भारत में सदा से रही है। सहस्रों वर्षों से वैदिक साहित्य वंश-परम्परागत कण्ठस्थ होकर आज भी अपने मौलिक रूप में विराजमान है।

वैदिक भाषा का जो रूप आजकल मिलता है, उसको देखने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि वह भाषा पूर्ण रूप से सुसंस्कृत थी। उस भाषा में मानव के उच्चतम विचारों को स्थायी रूप देने की अप्रतिम क्षमता थी। उस भाषा में उच्चकोटि का काव्य छन्दोबद्ध हो सकता था। भारत के सनातन पण्डितों ने तो उसकी उत्कृष्टता पर मुग्ध होकर कहा है कि वह ईश्वर की भाषा है, वेद ईश्वर की रचना है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि वेद विश्व-साहित्य में अनुपम हैं।

संस्कृत भाषा और साहित्य का नित्य विकास हुआ। संस्कृत के साथ ही और उससे अनुप्राणित हुई प्राकृत भाषा यों तो सुदूर प्राचीन काल से जन-भाषा रही है, पर इसका साहित्य ई० पू० छठी शती से मिलता है। इन्हीं प्राकृतों से विकसित होकर आज कल की प्रान्तीय भाषायें बनी हैं।

ऊपर जिस संस्कृत भाषा का उल्लेख किया गया है, वह आर्य-परिवार की भाषा है। आर्य-परिवार की भाषाओं का प्रसार आजकल सारे संसार में है। यह भारत के अधिकांश भाग में, ईरान में, प्रायः सारे योरप महाद्वीप में, सारे अमेरिका में, अफ्रीका के दक्षिण-पश्चिम भाग में तथा आस्ट्रेलिया में लिखने-पढ़ने और बोलने की भाषा है। भारत में लहँदी, सिन्धी, मराठी, उड़िया, बिहारी, बंगाली, असामी, हिन्दी, राजस्थानी, गुजराती, पंजाबी, भीली, पहाड़ी, हबूड़ी और सिहली भाषायें इसी परिवार की हैं। इनके बोलने वालों की संख्या इस समय इस देश में २५ करोड़ से ऊपर है। फारसी, अँगरेजी, जर्मन, फ्रेंच और रूसी आदि भाषायें इसी परिवार की हैं। योरप की प्राचीन ग्रीक और लैटिन भाषायें आर्य परिवार की ही हैं।

आर्य-परिवार की भाषाओं के अतिरिक्त इस देश में प्राचीन काल से ही द्राविड़, मुंडा (आस्ट्री) तथा तिब्बती-चीनी परिवारों की भाषायें प्रचलित रही हैं। प्राचीन साहित्य की दृष्टि से इनमें द्राविड़ परिवार महत्त्वपूर्ण है। द्राविड़ परिवार की तामिल, मलयालम, कन्नड और तेलगू भाषाओं में प्रचुर प्राचीन साहित्य मिलता है और वह उच्च कोटि का है। इनमें से तामिल का साहित्य पहली शती ई० से ही मिलता है। सम्भवतः प्राचीन युग में सैकड़ों वर्ष तक द्राविड़ परिवार की भाषायें सारे भारत में ही नहीं, बाहर भी बोली जाती थीं। अब भी पूर्वी बिलोचिस्तान में द्राविड़ परिवार की 'ब्राहुई' लगभग दो लाख मुसलमानों की बोलचाल की भाषा है। द्राविड़ परिवार की भाषाओं और साहित्य पर आर्य परिवार की भाषा और साहित्य का पूर्ण प्रभाव पड़ा पर साथ ही यह भी सत्य है कि आर्य परिवार ने द्राविड़ परिवार से भी बहुत-कुछ ग्रहण किया।

वैदिक साहित्य

वैदिक साहित्य में सर्वप्रथम वेदों का नाम आता है। वेदों की चार संहितायें—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद हैं। लगभग पाँच सहस्र वर्ष पहले ऋग्वेद की रचना प्रारम्भ हुई थी। इस ग्रन्थ के रचयिताओं को ऋषि तथा वर्ण्य विषय को देवता नाम दिया गया है। भारतवासियों का सनातन विश्वास है कि ऋषियों को वैदिक मन्त्रों का आभास-मात्र हुआ था, वास्तव में वेद ईश्वरीय कृति हैं और ऋषि केवल उनके संग्रहकर्त्ता मात्र हैं। ऋग्वेद के ऋषि गृत्समद विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भारद्वाज और वसिष्ठ आदि हैं। ऋग्वेद आदि से अन्त तक छन्दोबद्ध है। इसके छन्द अक्षरों की गणना

के अनुसार बनते हैं। किसी मन्त्र के एक चरण में प्रायः ८, १०, ११ या १२ अक्षर होते हैं। इनको क्रमशः अनुष्टुभ्, विराज्, त्रिष्टुभ् और जगती छन्द कहते हैं। त्रिष्टुभ् सबसे अधिक लोकप्रिय छन्द था। इसमें ऋग्वेद के लगभग आधे मन्त्रों की रचना हुई है।

ऋग्वेद का विभाजन दस मण्डलों में हुआ है। मण्डल अध्याय के समान हैं। मण्डलों में प्रायः एक-एक देवता के सम्बन्ध में, जो अलग-अलग पाठ बनाये गये हैं, उन्हें सूक्त कहते हैं। सूक्त में प्रायः कई श्लोक (मन्त्र) होते हैं, पर सामान्यतः प्रत्येक सूक्त में १० मन्त्र हैं। इस वेद में १०२८ सूक्त हैं, जिनमें सब मिलाकर १०, ६०० मन्त्र हैं।

ऋग्वेद में प्रायः तत्कालीन प्रतिष्ठित देवताओं की प्रशंसात्मक स्तुतियाँ मिलती हैं। उस समय प्रकृति की शक्तियों को सामान्यतः देवता माना गया था। द्यौः, वरुण, मित्र, सूर्य, सविता, पूषा, अश्विद्वय, उषा और रात्रि आदि देवताओं का निवास स्वर्ग में माना जाता था। इन्द्र, अपां नपात्, रुद्र, मरुद्गण, वायु, पर्जन्य और आपः वायुलोक के देवता समझे गये। पृथ्वी, अग्नि और सोम की प्रतिष्ठा पृथ्वी लोक के देवताओं के रूप में हुई। इनके अतिरिक्त बहुत से छोटे-मोटे देवता भी थे।

उपर्युक्त देवताओं के प्राकृतिक रूप को प्रायः प्रारम्भिक सूक्तों में प्रतिष्ठित किया गया है। धीरे धीरे उनको मानवीय रूप-रेखा और आचार-व्यवहार से समायुक्त कर दिया गया। प्राकृतिक शक्तियों की दिव्यता और मानवीकरण का समन्वय तत्कालीन ऋषि, दार्शनिक और कवि के मस्तिष्क और हृदय की सर्वोत्कृष्ट कल्पना थी। उस समय का ऋषि, दार्शनिक और कवि एक ही व्यक्ति था और वही गृहस्थाश्रम में खेती य

पशुपालन भी करता था। ऐसी परिस्थिति में वह पदे-पदे प्रकृति की शक्तियों से उपकृत था। देवताओं के प्रति कवि की आदर भरी भावना थी।

उषा के प्राकृतिक रूप के विषय में कवि ने कहा है—'वह प्रकाशमयी बन कर आती है, वह अखिल विश्व पर छा जाती है। वह देवताओं के नेत्र सूर्य का पथ-प्रदर्शन करता है।' मानवीकरण के द्वारा उषा युवती बन जाती है। उस के सूनरी (सुन्दरी) भद्रा और सुजाता आदि विशेषण दे दिये जाते हैं। वह मानव-लोक का उपकार करने के लिए सदा उद्यत रहती है। वह मानव-लोक को जागरित करती है और लोगों को अभ्युदय और जीवन प्रदान करती है। अन्ध तमिस्रा उसके लिए मार्ग बना देती है। प्रतिदिन प्रातः काल वह स्वर्ग का द्वार खोल देती है। वह दिनों का नेतृत्व करती है।

उषा विशाल रथ पर बैठकर मानवों के समीप आती है। वह स्वर्ग की कन्या, सूर्य की पत्नी अथवा माता, रात्रि की भगिनी आदि है। कवि के शब्दों में उषा के प्रति हृदयोद्गार इस प्रकार है :—

सह वामेन न उषो व्युच्छा दुहितर्दिवः।
सह द्युम्नेन बृहता विभावरि राया देवि दास्वती॥
अश्वावतीर्गोमतीर्विश्वसुविदो भूरि च्यवन्त वस्तवे।
उदीरय प्रति मा सूनृता उषश्चोद राधो मघोनाम्॥

१.४८.१—२

(हे देवि उषः, स्वर्ग की कन्ये, हे विभावरि, धन के साथ हम लोगों के लिए प्रकाश करो, अन्न-धन के साथ प्रभात करो, पशु-धन के साथ प्रकाश करो; तुम दानवती हो। अनेक अश्व और गौ वाली, विविध प्रकार के कल्याणों वाली उषाओं ने प्रकाश के लिए सदा प्रयत्न किया है। हे उषः, हमारे लिए दक्षिणा भेजो, दाताओं की उदारता को प्रखर बना दो।)

ऋग्वेद के सूक्तों में केवल देवताओं की स्तुतियाँ दान-दक्षिणा के लिए ही नहीं है, अपितु कवियों ने प्रार्थना की है कि शत्रुओं पर विजय प्राप्त हो जाय, युद्ध में विजय हो, यश मिले, विजय होने पर धन मिले, स्वर्ण-राशि मिले, पशुओं की संख्या बढ़े, खेतों में जल बरसे, वीर और यशस्वी पुत्र उत्पन्न हों। एक सूक्त में जुआरी की परिस्थितिओं का वर्णन किया गया है।

भारतीय संस्कृति की जिस रूप-रेखा की प्रतिष्ठा ऋग्वेद में हुई, उसका नित्य विकास हुआ। भारतीय दर्शन, धर्म, साहित्य, कला तथा आर्थिक और सामाजिक जीवन की नींव इसी ग्रन्थ में डाली गई है। केवल भारत ही नहीं, सारे संसार की संस्कृति पर प्रत्यक्ष या गौण रूप में ऋग्वेद का प्रभाव पड़ा है।

यजुर्वेद यज्ञों का वेद है। इसमें विभिन्न यज्ञों के लिये उपयोगी मन्त्रों का संग्रह है और तत्सम्बन्धी नियम दिये गये हैं। यजुर्वेद दो प्रकार का है—कृष्ण और शुक्ल। कृष्ण यजुर्वेद में मन्त्रों के साथ ही उनकी व्याख्या भी मिलता है। इसी व्याख्या के कारण ही वह वेद कृष्ण हो गया। शुक्ल यजुर्वेद में मन्त्र ही मन्त्र हैं, उनकी व्याख्या शतपथ ब्राह्मण में मिलती है। इस वेद के पद्यात्मक मन्त्र प्रायः ऋग्वेद से ले लिये गये

हैं, पूरे सूक्त न लेकर इधर-उधर से एक दो श्लोक ले लेने की प्रणाली ही रही।

यज्ञ की विधियों में पद-पद पर छोटी-बड़ी स्तुतियों का उच्चार होता था। वृक्षों की टहनी, यज्ञ-पात्र, समिधा, घोड़े की रस्सी और दाढ़ी बनाने के छुरे आदि, जो यज्ञ-क्रिया में उपयोगी होते थे, स्तुतियों के द्वारा सम्बोधित करके अनुकूल और कल्याणप्रद बना लिये जाते थे। कोई भी याज्ञिक पात्र लेते समय पुरोहित कहता था—सविता देव की प्रेरणा से मैं अश्विद्वय की बाँहों से पूषा के हाथों से, तुम्हारा ग्रहण करता हूँ। स्तुतियाँ प्रायः छोटी-छोटी हैं। वाजसनेयि-संहिता में अग्नि से प्रार्थना की गई है:—हे अग्ने! तुम शरीरों से रक्षक हो, मेरे शरीर की रक्षा करो। हे अग्ने! तुम जीवन-दाता हो; मुझको जीवन दो। हे अग्ने! तुम शक्ति-दाता हो; मुझे शक्ति दो। हे अग्ने! जो कुछ मेरे शरीर में अपूर्ण हो, उसे पूर्ण बनाओ।

भारतीय दर्शन और धर्म का वैज्ञानिक अध्ययन करने में यजुर्वेद का अतिशय महत्त्व है। काव्य की दृष्टि से तो प्रायः यह वेद नीरस ही है, पर सांस्कृतिक दृष्टिकोण से इसे भारतीय साहित्य में अद्वितीय स्थान मिला है। भारतीय विचार-धारा का जो स्रोत इस वेद से प्रवाहित होता है, वह सदा ही प्रगतिशील रहा है और आज भी मिलता है।

उद्गाता नामक पुरोहित जिन मन्त्रों को गाकर यज्ञ सम्बन्धी देवताओं का आह्वान करते थे, उनका संकलन सामवेद में किया गया। केवल ७५ श्लोकों को छोड़ कर सामवेद के शेष सभी श्लोक ऋग्वेद से लिये गये हैं। इसमें सब मिला कर १५४९ श्लोक हैं। सामवेद के दो भाग हैं—पूर्वार्चिक और उत्तरार्चिक। विषय की दृष्टि से पूर्वार्चिक की ऋचायें आग्नेय, ऐन्द्र, पवमान

और आरण्यक पर्वों में विभक्त हैं। उत्तरार्चिक में दशरात्र, संवत्सर, एकाह, अहीन, सत्र, प्रायश्चित्त और क्षुद्र—इन सात अनुष्ठानों की चर्चा की गई है।

भारतीय संगीत की उत्पत्ति सामवेद के यज्ञों के गानों से हुई है। सामवेद की ऋचाओं से ही विभिन्न गीतरागों की उत्पत्ति हुई है।

अथर्ववेद या अथर्वाङ्गिरस में उन महर्षियों की रचना का बाहुल्य है, जो यज्ञादि कर्मकलाप में लगे हुए तो थे ही, साथ ही मन्त्र-शक्ति के द्वारा वैयक्तिक या राष्ट्रीय अथवा सामाजिक विपत्तियों को दूर करते थे अथर्वा अभ्युदय के लिये उपयोगी मन्त्रों का नाम है और अंगिरस पापमयी सफलता के लिये उपयोगी मन्त्रों को कहते हैं। इस वेद में सब ७३१ सूक्त और ६००० श्लोक हैं।

हम देख चुके हैं कि ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद में मानव-जीवन की उत्थानमयी और आनन्ददायिनी लहरी का प्रवाह मिला है। अथर्ववेद में उपर्युक्त धारा का प्रवाह विरल है। मानव-हृदय की संकुचित प्रवृत्तियों का उद्गार इसमें प्रत्यक्ष रूप से परिलक्षित होता है। जीवन के जिस विशाल पक्ष और गरिमा का दर्शन ऋग्वेद में मिलता है उसका इस वेद में प्रायः अभाव ही है। विद्वानों की धारणा है कि इस वेद में अनार्यों के धर्म और आचरण का विवरण है।

अथर्ववेद में रोगों को दूर करने के लिये, रोगों को उत्पन्न करने वाले राक्षसों को डराने के लिये, औषधियों को अधिक कल्याणप्रद बनाने के लिये तथा शत्रुओं को पराभूत करने के लिये कवियों ने मन्त्र बनाये हैं। इन रचनाओं का आधार लोगों

का अन्ध विश्वास और अकर्मण्यता ही थीं। जब तक मनुष्य कर्मनिष्ठ रहता है, उसे मन्त्र-शक्तियों से सफलता पाने की आकांक्षा नहीं रहती है और न वीर पुरुष कभी जादू टोने से शत्रुओं के ऊपर विजय चाहता है। मनु ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि ब्राह्मणों का शस्त्र वाक् है, उन्हें अपने शत्रुओं को मारने के लिए शस्त्र उठाने की शक्ति कहाँ रही, बस अथर्ववेद के अंगिरस मन्त्रों के द्वारा ही शत्रुओं का विनाश करना चाहिए।

ऊपर जिन वेदों का वर्णन किया गया है, उनका शनैः शनैः यज्ञों से अधिकाधिक सम्बन्ध बढ़ता गया। यज्ञ की विधियों को जब धीरे-धीरे जटिल रूप दिया गया, तभी से उनकी गुत्थियों को सुलझाने के लिए वेदों के मन्त्रों की सहायता ली गई। इस प्रसंग में विविध प्रकार की कथायें, दृष्टान्त, तर्क और व्याकरण-सम्बन्धी व्याख्यायें उपस्थित की गई। इन सभी विषयों का समावेश ब्राह्मणों में मिलता है। ब्राह्मण साहित्य वास्तव में यज्ञ के विज्ञान का परिचय देता है। इससे यह नहीं समझ लेना चाहिये कि ब्राह्मणों में केवल यज्ञ-सम्बन्धी सैद्धान्तिक बातों का विवेचन मात्र कोरी पांडित्य पूर्ण शैली में किया गया है। इन ब्राह्मण-ग्रन्थों में कदाचित् ही कोई ऐसा विषय है, जिस पर कुछ न कुछ कहा न गया हो। इसमें कोई सन्देह नहीं कि बहुत सी बातें ऊटपटाँग हैं और तर्क अथवा वैज्ञानिक अन्वेषण से उनका कोई सम्बन्ध नहीं है, पर तत्कालीन मानव-मस्तिष्क ने ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में जो उन्नति की था, उनका सकलन इन्हीं ब्राह्मणों में मिलता है।

ऋग्वेद से सम्बद्ध ऐतरेय ब्राह्मण में सोम यज्ञ, राजसूय, और अग्निहोत्र का वर्णन है। कौषीतकि ब्राह्मण भी इसी वेद से सम्बद्ध है। इसमें भी विविध यज्ञों का विवेचन मिलता है।

सामवेद के ताण्डय-महाब्राह्मण में २५ अध्याय होने के कारण इसे पंचविंश भी कहते हैं। इसमें व्रात्यस्तोम मिलते हैं, जिनकी सहायता से व्रात्यों को ब्राह्मण बनाया जा सकता था। सामवेद का दूसरा ब्राह्मण जैमिनीय है। इसमें महत्त्वपूर्ण कथायें और धार्मिक विवरण मिलते हैं।

कृष्ण यजुर्वेद में ब्राह्मण का अंश मन्त्रों के व्याख्या-रूप में वर्त्तमान है। इस वेद की तैत्तिरीय-संहिता का विकास हुआ, वह तैत्तिरीय ब्राह्मण बना। इस ब्राह्मण में 'पुरुषमेध' यज्ञ का विवरण है। शुक्ल यजुर्वेद से सम्बद्ध शतपथ ब्राह्मण है। शत अध्यायों के कारण ही इसे शतपथ नाम दिया गया है। इस वेद में अग्निचयन (यज्ञ-वेदिका का निर्माण), अग्नि-रहस्य, उपनयन, स्वाध्याय, अश्वमेध, पुरुषमेध और सर्वमेध आदि का विवेचन किया गया है। गोपथ ब्राह्मण अथर्ववेद से सम्बद्ध है।

ब्राह्मणों की वर्णन-शैली का परिचय नीचे लिखी ऐतरेय ब्राह्मण की कथा से मिल सकता है:—सोमराज गन्धर्वों में रहते थे। देवताओं और ऋषियों ने उनका ध्यान किया कि सोम कैसे हमारे बीच आ जायँ। वाक् ने कहा, 'गन्धर्व स्त्रियों को बहुत चाहते हैं। मैं स्त्री हूँ, मुझे देकर सोम को गन्धर्वों से ले लो।' देवताओं ने कहा, 'ऐसा नहीं हो सकता, तुम्हारे बिना हम लोगों का काम कैसे चलेगा?' वाक् ने कहा, 'तुम लोग सोम को ले तो लो, तुम्हें आवश्यकता पड़ेगी तो मैं फिर आ जाऊँगी।' देवताओं ने कहा, 'अच्छा, ऐसा ही हो।' उन्होंने वाक् को देकर सोमराज को ले लिया। इस क्रय-विक्रय का अनुकरण अब भी एक सर्वगुण सम्पन्न गौ देकर सोम लेने के समय किया जाता है। इसी से वे सोम को मोल लेते हैं। उस गौ को वे पुनः मोल

आरण्यक के यज्ञ के स्थान पर उपनिषदों में ब्रह्म के रहस्य की चर्चा की गई है। आरण्यकों का अध्ययन वानप्रस्थ आश्रम के लोगों के लिये नियत था।

दर्शन और जीवन की जो रूप-रेखा उपनिषदों में प्रतिष्ठित हुई, वह भारतीय समाज में सदैव आदर्श मानी गई। इस देश के सभी दर्शनों और धर्मों का बौद्धिक आधार उपनिषद्-साहित्य है। उपनिषदों की रचना तत्कालीन महर्षियों ने की थी। इन महर्षियों का जीवन तपोमय था। वे ज्ञान की खोज में निष्काम परिश्रम करते थे। भारतीय जीवन को सदा के लिए सात्त्विकता की ओर अग्रसर करने का श्रेय उपनिषद्-साहित्य को ही है। शाश्वत और परम सत्य का ज्ञान उपनिषदों में मिलता है। वह चिरन्तन सत्य है—'सब कुछ ब्रह्म है, आत्मा ब्रह्म है।' महर्षि मानव-जीवन और विश्व-सृष्टि की समस्याओं पर विचार करते हुए इसी निष्कर्ष पर पहुँचा। ब्रह्म सत् है, चित् है और आनन्द है। मानव ने कामना की—असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्मा अमृतं गमय।

उपनिषद् की शैली काव्यात्मक और सरल है। छान्दोग्य उपनिषद् के नीचे लिखे गद्यांश में आरुणि अपने पुत्र श्वेतकेतु के लिये आत्मा की व्याख्या कर रहा है :—

न्यग्रोधफलमत आहरेति। इदं भगव इति। भिन्द्धीति। भिन्नं भगव इति। किमत्र पश्यसीति। अण्व्य इवेमा धाना भगव इति। आसामङ्गैकां भिन्द्धीति। भिन्ना भगव इति। किमत्र पश्यसीति न किञ्चन भगव इति।

तं होवाच यं वै सौम्यैतमणिमानं न निभालयस एतस्य वै सौम्यैषोऽणिम्न एवं महान्यग्रोधस्तिष्ठति श्रद्धत्स्व सोम्येति।

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति । भूय एव मा भगवान्विज्ञापयत्विति । तथा सोम्येति होवाच ।

पिता ने कहा, 'एक वट का फल लाओ ।' पुत्र ने कहा, 'भगवन्, यह रहा ।' 'इसके टुकड़े करो ।' 'टुकड़े कर दिया ।' 'इसमें क्या देख रहे हो ।' 'नन्हें बीज, भगवन् ।' 'इनमें से एक के टुकड़े करो ।' 'टुकड़े कर दिया ।' 'इसमें क्या देख रहे हो ।' 'कुछ भी नहीं, भगवन् ।'

उससे (पुत्र से) कहा, 'हे सोम्य ! जिस अणिमा (लघु रूप) को नहीं देख रहे हो, उसी अणिमा का यह महान् वट-वृक्ष है । हे सोम्य श्रद्धा करो ।'

'यह वह अणिमा है, इसी से यह सारा आत्मा वाला है—वह सत्य है—वह आत्मा है—वह तुम हो श्वेतकेतु !' 'आप मुझे फिर समझायें' पिता ने कहा, 'ठीक है सोम्य !'

उपनिषदों की संख्या लगभग २०० है, पर वैदिक साहित्य के विकास की परम्परा में ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, श्वेताश्वतर बृहदारण्यक, छान्दोग्य और कौषीतकि नामक बारह उपनिषद् आते हैं ।

उपनिषद्-काल के पश्चात् वेदों के अध्ययन में सहायता देने वाले एक और कोटि के साहित्य की रचना हुई, जिसे वेदांग कहते हैं । वेदांगों की रचना सूत्र शैली में हुई है । इनकी संख्या छः है—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष । शिक्षा के द्वारा वैदिक मन्त्रों के उच्चारण और सस्वर पाठ की शिक्षा दी गई है । शिक्षा के सर्वप्रथम ग्रन्थ प्रातिशाख्य हैं । प्रातिशाख्यों से ही व्याकरण के अध्ययन का प्रारम्भ माना जाता है । कल्प की तीन शाखायें हैं—श्रौत, गृह्य और धर्म ।

श्रौत में वैदिक यज्ञों का वर्णन है। गृह्य में विशेषतः संस्कारों की चर्चा की गई है। धर्म में राजनीतिक आचार-विचार तथा वर्णाश्रम-धर्म का विवेचन किया गया है। व्याकरण नामक जिस वेदांग-साहित्य का विकास वैदिक काल में हुआ था, उसका सम्बन्ध वेदों के व्याकरण से था। ऐसा कोई भी वेदांग अब प्राप्य नहीं है। व्याकरण का सर्वप्रथम वैज्ञानिक ग्रन्थ पाणिनि का अष्टाध्यायी है। निःसन्देह पाणिनि ने अपने पूर्ववर्ती वैयाकरणों की रचनाओं का समुचित उपयोग किया है, जिनका अब लोप हो गया है। पाणिनि की अष्टाध्यायी में वेदांग-साहित्य की शैली अपनाई गई है। निरुक्त नामक वेदांग में वैदिक शब्दों की व्युत्पत्ति का परिचय दिया गया है। वैदिक शब्दों की सूची निघण्टु में मिलती है। निरुक्त निघण्टु की व्याख्या है। छन्द नामक वेदांग वैदिक मन्त्रों के छन्द का परिचय देने के लिये बना होगा। इस कोटि का कोई भी ग्रन्थ अब नहीं मिलता है। ज्योतिष नामक वेदांग का प्रादुर्भाव यज्ञों के सम्पादन के लिये उचित समय का निर्णय करने के लिये हुआ। इस कोटि की एक रचना अब भी मिलती है, जिसमें लगभग ४० श्लोक हैं।

वेदाङ्गों की रचना सूत्र-शैली में हुई है। सूत्र शैली की उपयोगिता कम से कम शब्दों के द्वारा अधिक अर्थ-प्रकाश करने में है। सूत्रों के विषय में कहा गया है :—

स्वल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम्।
अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः॥

सूत्र कम से कम अक्षर वाले, सन्देहरहित, सार भरे हुए, सब ओर प्रवृत्ति रखने वाले, अप्रतिहत, दोषरहित होते हैं।

सूत्र शैली का परिचय आश्वलायन गृह्यसूत्र के नीचे लिखे अवतरण से हो सकता है :—

अलंकृत्य कन्यामुदकपूर्वां दद्यात्, एष ब्राह्मोविवाहः
तस्यां जातो द्वादशावरान्द्वादश परान्पुनात्युभयतः ।

ऋत्विजे वितते कर्मणि दद्यादलंकृत्य स दैवो, दशावरान्दश परान्पुनात्युभयतः ॥

सह धर्मं चरत इति प्राजापत्योऽष्टावरान परान्पुनात्युभयतः ।

गोमिथुनं दत्त्वोपयच्छेत स आर्षः, सप्तावरान् सप्त परान् पुनात्युभयतः ।

मिथः समयं कृत्वोपयच्छेत स गान्धर्वः
धनेनोपतोष्योपयच्छेत स आसुरः ।
सुप्तानां प्रमत्तानां वापहरेत्स पैशाचः ॥

हत्वाच भित्त्वा शीर्षाणि रुदतीं रुदद्भ्यो हरेत् स राक्षसः ।

अलङ्कार करके कन्या को जल के साथ दे दे । यह ब्राह्म विवाह है । उसमें उत्पन्न दोनों ओर से (वर और कन्या पक्ष) बारह पीछे और बारह आगे (की पीढ़ियों) को पवित्र कर देता है ।

ऋत्विक् (पुरोहित) के लिए यज्ञ सम्पन्न हो जाने पर अलंकार करके दे दे, वह दैव दोनों ओर से दस पीछे और दस आगे को पवित्र कर देता है ।

'साथ धर्म का आचरण करो' यह प्राजापत्य दोनों ओर से आठ पीछे और आठ आगे को पवित्र कर देता है ।

एक जोड़ी गौ देकर विवाह करले, वह आर्ष दोनों ओर से सात पीछे और सात आगे को पवित्र कर देता है ।

आपस में मिल-मिलाकर विवाह करले, वह गान्धर्व है।

धन से सन्तुष्ट करके विवाह करले, वह आसुर है। (कन्या के बन्धु-बान्धवों) के सोये हुए या प्रमत्त होने पर अपहरण करले, वह पैशाच है।

मार कर वा सिर फोड़ कर रोती हुई को विलाप करते हुए लोगों से अपहरण करे, वह राक्षस है।

ऊपर जिस वैदिक साहित्य की चर्चा की गई है, उसकी रचना के समय के विषय में विद्वानों में मत-भेद है। विभिन्न मतों के अनुसार इसका प्रारम्भ-काल ई० पू० ४५०० से लेकर ई० पू० १५०० तक तथा अन्त-काल ई० पू० २५०० से लेकर ई० पू० ३०० तक माना गया है। साधारणतः वेदों का प्रारम्भ-काल ई० पू० ३००० के आस पास और अन्त-काल ई० पू० ८०० के आसपास माना जा सकता है।

संस्कृत-साहित्य

वैदिक साहित्य प्रायः वैदिक संस्कृत भाषा में है। इस भाषा का शनैः शनैः विकास हुआ और साहित्य की एक नई भाषा बनी, जिसका नाम लौकिक संस्कृत है। इसका आदिकालीन रूप वेदाङ्गों में तथा महाभारत और रामायण आदि ग्रन्थों में मिलता है।

महाभारत विश्व-साहित्य का विशालतम ग्रन्थ है। भारतीय समाज में राजकीय प्रासाद से लेकर रंक की कुटिया तक में सुदूर प्राचीन काल से लेकर आज तक इसकी प्रतिष्ठा रही है। इस ग्रन्थ की कथा-वस्तु से बालक से बूढ़े तक सभी सदा ही परिचित रहे हैं। जिन महामानवों के उदात्त चरित और चरित्र

का इस ग्रन्थ में निर्माण हुआ, वे आज भी आदर्श माने जाते हैं। आज भी प्रत्येक भारतीय के व्यक्तित्व में महाभारत के कथानक, शिक्षाओं और समस्याओं के समाधान की निधि अप्रत्यक्ष रूप से प्रस्फुटित है।

महाभारत में प्रधानतः कौरव और पाण्डवों के युद्ध का वर्णन है, पर इसके साथ अगणित विषयों के सम्बन्ध में चर्चा भी की गई है। कहते हैं कि जो इस ग्रन्थ में नहीं है, वह अन्यत्र भी नहीं है और यदि कुछ अन्यत्र मिलता है तो वह इसमें अवश्य ही है। इस ग्रन्थ में भारतीय जीवन के चतुर्वर्ग—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की विशद व्याख्या की गई है।

महाभारत का रचना-काल सुनिश्चित नहीं है। इसकी रचना संभवतः ई० पू० १००० से लेकर ई० पू० दूसरी शती तक हुई थी। इस ग्रन्थ में समय-समय पर परवर्ती कवियों के जोड़े हुए क्षेपक स्थान-स्थान पर मिलते हैं, पर इनके कारण इस ग्रन्थ की सुरम्यता नष्ट नहीं हो सकी है।

पुराण

वैदिक साहित्य कभी भी सर्वसाधारण के समझने की वस्तु नहीं रहा है। भाषा-सम्बन्धी कठिनाइयाँ तो थीं ही, साथ ही वह साहित्य बहुत-कुछ आर्य-जीवन से सम्बद्ध होने के कारण जनता की सांस्कृतिक परिधि से परे था। ऐसी परिस्थिति में लोक-भाषा में सर्वसाधारण के उपयोग के लिये साहित्य की सृष्टि सदा ही होती रही। पुराणों की गणना ऐसे ही साहित्य में है। पुराण का तात्पर्य है पूर्वकालीन बातें। सदा से पूर्वकालीन बातें जनता के बीच कही सुनी जाती रही हैं। वैदिक काल में भी पुराण-कोटि के साहित्य के उल्लेख मिलते हैं। उस साहित्य का भाषा

वर्ण्य-विषय और शैली की दृष्टि से विकास होता रहा। वंशानुक्रम से इस प्रकार पुराण-साहित्य का संवर्धन हुआ। पौराणिक साहित्य को सम्पादन और संकलन के द्वारा सुव्यवस्थित और स्थायी रूप भी दिया गया। अठारह पुराणों की आधुनिक रूप-रेखा इस प्रकार प्रस्तुत हुई। पुराणों को यह रूप पाँचवीं शती ई० से मिला।

पुराणों के वर्ण्य विषय के सम्बन्ध में कहा जाता है :—

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पंचलक्षणम्॥

(सृष्टि, प्रलय और पुनः सृष्टि, आदिकालीन वंशावली, मनुओं के युगों का वर्णन तथा राजवंशों का वर्णन—यही पुराण-साहित्य के पंचलक्षण हैं।)

ये पंच लक्षण आधुनिक पुराणों में पाये तो जाते हैं, पर इनके अतिरिक्त जो बातें पाई जाती हैं, वे इनसे अधिक महत्त्व-पूर्ण हैं। प्राचीन भारतीय जीवन का सर्वाङ्गीण चित्र पुराणों में मिलता है। ऐसा कोई विषय नहीं, जिस पर पुराण को कुछ न कुछ कहना न हो।

पुराणों की सर्वसम्मत नामावली इस प्रकार मिलती है :— ब्रह्म, पद्म, विष्णु, शिव, भागवत, नारदीय, मार्कण्डेय, अग्नि, भविष्य, ब्रह्मवैवर्त, वराह, लिंग, स्कन्द, वामन, कूर्म, मत्स्य, गरुड और ब्रह्माण्ड। वर्ण्य विषय की दृष्टि से इन पुराणों के नीचे लिखे वर्ग बनते हैं :—

(१) साहित्य के ज्ञान-कोश—गरुड, अग्नि और नारद। भारतीय साहित्य का सारांश इनमें मिलता है। पौराणिक विषयों के अतिरिक्त इनमें आयुर्वेद, व्याकरण, नाट्यशास्त्र, संगीत और ज्योतिष की चर्चा की गई है।

(२) तीर्थ और व्रतों का वर्णन—पद्म, स्कन्द और भविष्य पुराणों में तत्कालीन तीर्थों और व्रतों का सांगोपांग वर्णन किया गया है।

(३) दार्शनिक तत्त्व—ब्रह्म, भागवत और ब्रह्मवैवर्त पुराण में दार्शनिकता और भक्ति का पुट है।

(४) ऐतिहासिक ज्ञान—ब्रह्माण्ड पुराण में ऐतिहासिक परिस्थितियों का परिचय मिलता है।

(५) साम्प्रदायिक ग्रन्थ—लिंग, वामन और मार्कण्डेय में शैव और शाक्त सम्प्रदायों की चर्चा मिलती है।

(६) अवतार वर्णन—वराह, कूर्म और मत्स्य पुराणों में विष्णु के अवतारों का प्रमुख रूप से वर्णन है।

पुराणों से भिन्न पर उसी कोटि के अठारह उपपुराण भी हैं। उपपुराणों में पुराणों की अपेक्षा साम्प्रदायिक विषयों की अधिक चर्चा है। उपर्युक्त पुराणों और उपपुराणों का सम्बन्ध-वैदिक धर्म से है। इनके अतिरिक्त जैन धर्म के भी अनेक पुराण संस्कृत भाषा में मिलते हैं। जैन पुराणों में प्राय इस धर्म में प्रतिष्ठित ६३ महापुरुषों के जीवन-चरित का वर्णन किया गया है। सातवीं शती में रविषेण ने पद्मपुराण की रचना की। इसमें जैनियों के महापुरुष पद्म (राम) की कथा का वर्णन है।

जिनसेन ने आठवीं शती में हरिवंश पुराण की रचना की। इस पुराण में कृष्ण और बलराम की कथा दी गई है। नवीं शती में जिनसेन और उनके शिष्य गुण भद्र ने एक महापुराण की रचना की, जिसमें महापुरुषों की चरित-गाथा दी हुई है। बारहवीं शती में उपर्युक्त महापुराण की कोटि के त्रिषष्टि-शलाका-पुरुष-चरित नामक ग्रन्थ की रचना हेमचन्द्र ने की।

अब तक जिस साहित्य की चर्चा की गई है, उसका स्वरूप काव्यात्मक नहीं कहा जा सकता। निःसन्देह उसमें कहीं-कहीं काव्य की झलक मिलती है। वह साहित्य प्रमुख रूप से धार्मिक और दार्शनिक कोटि में आता है। उसके रचयिता भी महान् चिन्तक और धर्मपरायण लोग थे। ऐसे साहित्य की अभिवृद्धि प्राचीन काल में सदा ही होती रही।

ईसवी शती के लगभग ५०० वर्ष पहले से काव्यात्मक साहित्य का प्रथम युग माना जाता है। काव्य-कोटि की सर्वप्रथम रचना वाल्मीकि की रामायण है। इस ग्रन्थ को आदिकाव्य कहते हैं। इसमें काव्य के विशिष्ट गुण—रस, अलंकार और व्यंजना का प्रचुर समावेश हुआ।

नाटक

काव्य-साहित्य के विविध रूपों की प्रतिष्ठा प्रारम्भ से ही हुई है। दृश्य और श्रव्य के भेद से काव्य के दो मौलिक भेद हैं। दृश्य-कोटि में नाटकादि काव्य आते हैं, जिनका नाट्यशाला में अभिनय हो सकता है। दृश्य काव्य को रूपक भी कहते हैं क्योंकि अभिनय करते समय अभिनेता (नट) में पात्रों के स्वरूप का आरोपण किया जाता है। रूपक दस प्रकार के होते हैं—नाटक, प्रकरण, भाण, व्यायोग, समवकार, डिम, ईहामृग, अंक, वीथी और प्रहसन। इनके अतिरिक्त अठारह प्रकार के उपरूपक होते हैं। उपरूपकों में नाटिका प्रमुख है।

नाटक की कथा सुप्रसिद्ध होती है, वह कवि-कल्पित नहीं होती। इसमें पाँच सन्धियाँ—मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श, और निर्वहण होती हैं। इसमें विलास, समृद्धि आदि गुण और विविध प्रकार की विभूतियाँ समन्वित होती हैं। नाटक में सुख

और दुःख की दशाओं का परिचित्रण होता है और नाना रसों का परिपाक होता है। शृंगार अथवा वीर रस की प्रधानता होती है, अन्य सभी रस गौण रूप से आते हैं, अन्तिम सन्धि में अद्भुत रस का समावेश होता है। नाटक में पाँच से लेकर दस तक अंक होते हैं।

नाटक का नायक सुप्रसिद्ध वंश में उत्पन्न, उदात्त और प्रताप-शाली राजर्षि अथवा देवता होता है। अन्य मुख्य पात्रों की संख्या चार, पाँच तक ही सीमित रहती है।

रंगमञ्च पर अभिनय सम्बन्धी शालीनता का ध्यान रखा जाता है। दूर से पुकारना, वध, युद्ध, राज्य और देश में विप्लव, विवाह, भोजन, शाप, मल-मूत्र का त्याग, मृत्यु, शयन, अधर-पान, नगर का घेरा डालना, स्नान और अनुलेखपन आदि अभिनय के विषय नहीं हो सकते थे।

नाटक के प्रारम्भ में सर्वप्रथम पूर्वरङ्ग का विधान होता है। पूर्वरंग में नाट्य शाला के विघ्नों की उपशान्ति के लिये पूजा पाठ आदि होते हैं। इसके पश्चात् देवता, ब्राह्मण और राजा की स्तुति नान्दी-पाठ के द्वारा प्रस्तुत की जाती है। नान्दी के हो जाने पर काव्य की स्थापना होती है।

नाटकों में पात्रों की योग्यता के अनुकूल विविध प्रकार की भाषाओं का प्रयोग होता है। पवित्र चरित्र वाले उत्तम और मध्यम कोटि के पात्र संस्कृत बोलते हैं। उपर्युक्त कोटि की स्त्रियाँ शौरसेनी प्राकृत बोलती हैं। इनके अतिरिक्त अन्य सभी पात्र अपने-अपने देश और व्यवसाय की भाषा बोलते हैं। इस प्रकार प्राचीन नाटकों में मागधी, अर्धमागधी, शाबरी, आभीरी, द्राविड़ी आदि भाषाओं का समावेश होता है।

नाटक की जो रूप-रेखा ऊपर प्रस्तुत की गई है, उस से मिलती-जुलती विशेषतायें अन्य रूपकों और उपरूपकों की भी हैं। केवल कथा-वस्तु, नेता और रस की विभिन्नता से उनका भेद होता है। कथा-वस्तु कवि-कल्पित हो सकती है, नेता प्रशान्त, उद्धत अथवा ललित हो सकता है और प्रधान रस वीर और शृङ्गार के अतिरिक्त दूसरे हो सकते हैं। इन रूपकों और उपरूपकों में सभी कोटियों के मानव, देवता, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, नाग, भूत, प्रेत, पिशाच आदि की कृतियों को कथा-रूप में वर्णित किया गया है। इस प्रकार ऐतिहासिक या पौराणिक विषयों के अतिरिक्त असंख्य प्रकार के कविकल्पित, संभव अथवा असंभव, लौकिक अथवा अलौकिक कथायें रूपकों और उपरूपकों में संगृहीत हैं।

भारतीय रूपकों और उपरूपकों में ज्ञान की बातें तो अवश्य मिलती हैं, पर उनका वास्तविक उद्देश्य आनन्द की सृष्टि करना है। धनंजय ने दशरूपक की भूमिका में इस साहित्य की गरिमा का उल्लेख करते हुए कहा है :—

आनन्दनिस्यन्दिषु रूपकेषु
व्युत्पत्तिमात्रं फलमल्पबुद्धिः।
योऽपीतिहासादिवदाह साधु-
स्तस्मै नमः स्वादुपराङ्मुखाय ॥

(रूपक आनन्द के सोते हैं। जो अल्प बुद्धि रखने वाला व्यक्ति इसे इतिहास आदि के समान केवल ज्ञान का साधन मानता है, उस स्वादविहीन व्यक्ति को नमस्कार।)

नाट्य साहित्य के प्रारम्भिक ग्रन्थों में से कुछ के उल्लेख मात्र ही मिलते हैं। निःसन्देह अनेक रूपकों और उपरूपकों की रचना ईसवी शती से पहले हुई थी। कम से कम ई० पू० पाँचवीं शती में पाणिनि ने नटसूत्रों का उल्लेख किया है। यह निस्सन्देह प्रमाण है कि नाट्य-कला और नाट्य-साहित्य उस समय भली-भाँति प्रतिष्ठित थे। ई० पू० दूसरी शती में पतञ्जलि ने कंसवध और बलिबन्ध आदि रूपकों का प्रणयन देखा था। पहली शती ईसवी से लिखे हुए रूपक मिलते हैं।

पहली शती ईसवी के लिखे हुए अश्वघोष के तीन रूपक मिलते हैं। ये सभी अधूरे हैं, पर इनके देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि उस समय तक रूपक-शैली का अच्छा विकास हो चुका था। अश्वघोष ने इन नाटकों को बौद्ध धर्म के अनुकूल बनाया है।

अश्वघोष के पश्चात् भास नामक महानाटककार हुआ। भास की काव्य-कला की प्रशंसा जिन परवर्ती साहित्यकारों ने की है, उनमें कालिदास, बाण, दण्डी और राजशेखर प्रमुख हैं। भास कब हुआ था, कौन-कौन रूपक उसकी लेखनी से रचे गये—आदि प्रश्नों का समाधान अभी तक सन्तोषजनक रीति से नहीं हो सका है। संभवतः तीसरी शती में भास का प्रादुर्भाव हुआ। भास के लिखे हुए तेरह नाटक हैं, जो त्रिवेन्द्रम् से प्रकाशित हुए हैं। इतना तो निश्चित है कि महाकवि भास ने स्वप्नवासवदत्त नामक एक नाटक लिखा था और वह आज भी अपने मौलिक अथवा परिवर्धित या संशोधित रूप में मिलता है। स्वप्नवासवदत्त में वत्स देश के राजा उदयन तथा वासवदत्ता और पद्मावती की प्रेम-कथा का वर्णन है।

भास के पश्चात् शूद्रक का लिखा हुआ प्रकरण मृच्छकटिक मिलता है। शूद्रक संभवतः तीसरी या चौथी शती ईसवी में हुआ था। इस रूपक में चारुदत्त नामक ब्राह्मण के वसन्तसेना नामक वेश्या से प्रेम करने के मार्ग में आई हुई विविध कठिनाइयों का चित्रण किया गया है। यह रूपक कल्पना, हास्य और वाग्विलास की दृष्टि से अत्यन्त मनोरंजक है। जीवन की विविधता और संघर्ष का जैसा स्वाभाविक और मार्मिक चित्रण इस रूपक में मिलता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। इस रूपक में सात प्रकार की प्राकृत भाषाओं का उपयोग हुआ है।

काव्य साहित्य का जो विकास अब तक हो चुका था, उस आधार-शिला पर कालिदास की रचना की अट्टालिका अनुपम प्रतिभा से चमकती हुई दिखाई पड़ती है। कालिदास के लिखे हुए मालविकाग्निमित्र और अभिज्ञा-शाकुन्तल रूपक तथा विक्रमोर्वशीय उपरूपक मिलते हैं। मालविकाग्निमित्र में मालविका और अग्निमित्र की तथा विक्रमोर्वशीय में विक्रम और उर्वशी की प्रेम-गाथा का चित्रण है। नाट्य कला की दृष्टि से अभिज्ञान शाकुन्तल कालिदास की सर्वोच्च कृति है। इस नाटक में कथा-वस्तु महाभारत से ली गई है। नाटक में राजा दुष्यन्त नायक है, जो कण्व के आश्रम में जाकर उनकी पालित कन्या शकुन्तला से गन्धर्व विवाह करके राजधानी में लौट आता है, पर दुर्वासा के शाप के कारण इस विवाह की स्मृति उसे नहीं रह जाती है। दुष्यन्त ने शकुन्तला को एक अँगूठी दी थी, वह भी गुम हो जाती है। कण्व के शिष्य जब उसे दुष्यन्त के पास ले जाते हैं, तो वह उसे अस्वीकार कर देता है। शकुन्तला मारीच के आश्रम में चली जाती है। वहीं उसे पुत्र उत्पन्न होता है। इस बीच शकुन्तला को दी हुई अँगूठी, जिसे शकुन्तला के शचीतीर्थ की

वन्दना करते समय गिर जाने पर मछली ने खा डाला था, राजा के समक्ष प्रस्तुत की जाती है। उसे देखते ही राजा को शकुन्तला की स्मृति हो जाती है। इसी वियोगावस्था में राजा इन्द्र की सहायता करने के लिये स्वर्ग-लोक में जाता है और वहाँ से लौटते समय मारीच के आश्रम में शकुन्तला से उसका पुनर्मिलन होता है। बस इतनी ही सी कथा है। कवि के हाथों में यह कथा स्थान-स्थान पर उसकी प्रतिभा और कल्पना को मनोरम व्यञ्जना और चित्रण के लिये अवसर प्रदान करती है। चतुर्थ अङ्क में शकुन्तला के प्रस्थान-दृश्य का वर्णन इस प्रकार है :—

(प्रविश्य)

शिष्यः—भगवन् इमे स्मः ।

काश्यपः—भगिन्यास्ते मार्गमादेशय ।

शार्ङ्गरवः—इत इतो भवती ।

(सर्वे परिक्रामन्ति ।)

काश्यपः—भो भोः संनिहितास्तपोवनतरवः ।

पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या ।
नादत्ते प्रियमण्डनापि भवतां स्नेहेन या पल्लवम् ।
आद्ये वः कुसुमप्रसूतिसमये यस्या भवत्युत्सवः
सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम् ॥

(कोकिल रवं सूचयित्वा)

अनुमतगमना शकुन्तला तरुभिरियं वनवासबन्धुभिः ।
परभृतविरुतं कलं यथा प्रतिवचनीकृतमेभिरीदृशम् ॥

(प्रवेश करके)

शिष्य—भगवन्, हम यहाँ हैं ।

काश्यप—अपनी भगिनी (शकुन्तला) को मार्ग दिखाओ।

शार्ङ्गरव—इधर से, इधर से आप चलें।

(सभी मुड़ जाते हैं)

काश्यप—भो भो पड़ोसी तपोवन-वृक्ष!

जो (शकुन्तला) तुम्हारे जलपान करने के पहले अपने जल नहीं पीती थी, जो अलङ्कारों का चाव होते हुए भी स्नेहवश तुम्हारे पल्लव नहीं तोड़ती थी, तुम्हारे कुसुमों का प्रथम दर्शन होने पर जिसका उत्सव होता था, वही यह शकुन्तला पति के घर जा रही है। तुम सभी के द्वारा अनुमोदन किया जाय।

(कोकिल की बोली की सूचना देकर)

वनवास के बन्धु, वृक्ष शकुन्तला को जाने के लिये अनुमति दे रहे हैं। प्रत्युत्तर के रूप में उन्होंने कोयल के कलरव को अपनाया है।

कालिदास का काल-निर्णय अभी तक निःसन्दिग्ध रूप से नहीं हो सका। अधिकांश विद्वानों का मत है कि वे चौथी और पाँचवीं शती में गुप्त-युग में चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की राज-सभा में थे।

सातवीं-शती के पूर्वार्ध में महाराज हर्षवर्धन की लिखी नाटिकायें 'रत्नावली' 'प्रियदर्शिका' और नाटक नागान्द हैं। इन तीनों की कथा-वस्तु प्रेम-भरी कहानियों पर अवलम्बित है। अन्तिम रूपक नागानन्द का नायक जीमूतवाहन विद्याधर है। नागानन्द के प्रारम्भिक भाग में उसका विवाह मलयवती नामक सिद्ध-कन्या से होता है। अन्तिम भाग में जीमूतवाहन गरुड के द्वारा नित्य खाये जाते हुए साँपों की रक्षा करने के लिये आत्म-बलिदान करता है। अन्त में गौरी उसे पुनर्जीवन देती हैं।

अमृत-वृष्टि से मरे हुए साँप भी जीवित हो उठते हैं। हर्षवर्धन के भाव और भाषा दोनों सरल हैं। उनको समझने के लिये न तो अगाध पाण्डित्य की आवश्यकता है और न बारंबार अर्थ सोचने की। नागानन्द में उसने जिस उदारचेता नायक की कल्पना की है, वह पूर्णतः भारतीय संस्कृति का प्रतीक है।

सातवीं शती के उत्तरार्ध में भवभूति ने महावीर-चरित और उत्तर-रामचरित नामक नाटकों और मालतीमाधव नामक प्रकरण की रचना की। इनमें से उत्तर-रामचरित कवि की सर्वोत्कृष्ट रचना है। इसकी कथा-वस्तु रामायण से ली गई है। राम के अयोध्या का राजा हो जाने पर सीता का निर्वासन होता है। वह वाल्मीकि के आश्रम में रहने लगती है। राम दण्ड-कारण्य में शम्बूक नामक वृषल का वध करके जब लौट रहे हैं तो वे वाल्मीकि के आश्रम में जा पहुँचते हैं। वहीं वाल्मीकि एक नाटक का अभिनय कराते हैं, जिसमें सीता के निर्वासन के समय से लेकर पुत्र-प्रसव और वाल्मीकि के आश्रम में पहुँचने का दृश्य दिखाया जाता है। अन्त में राम और सीता का पुनर्मिलन होता है।

उपर्युक्त नाटक भारतीय साहित्य का अनुपम रत्न है। इसमें कवि ने राम और सीता के जिस उदात्त चरित का कल्पना की है, वह सदा ही भारतीय संस्कृति का सर्वोच्च प्रतीक बन कर रहा है। कवि ने साधना को जीवन की सफलता का रहस्य माना है। उस साधना का प्रतीक इस नाटक में लोक-सेवा और आत्म-त्याग हैं। भारवि ने राम के विषय में स्वयं कहा है :—

इदं विश्वं पाल्यं विधिवदभियुक्तेन मनसा
प्रियाशोको जीवं कुसुममिव घर्मो ग्लपयति।

(मन लगा कर विधिवत् इस विश्व का पालन करना ही है, साथ ही प्रिया का शोक हृदय को उसी प्रकार सूलता है जैसे घाम कुसुम को)।

और भी 'राजाश्रमनिवासेऽपि प्राप्तकष्टमुनिव्रतः' (राजा होने पर भी मुनियों का तपोमय जीवन राम ने अपना लिया है।)

महावीर-चरित में लगभग पूरे रामायण की कथा दी गई है। कथा को भवभूति ने नया रूप दे दिया है। सारी कथा का केन्द्र राम और रावण का वैर है। कथा में जो कुछ परिवर्त्तन किया गया है, वह नाटकीय कला की दृष्टि से सफल है।

मालतीमाधव में मालती और माधव की प्रेमकथा का चित्रण है। अनेक विघ्न-बाधाओं के पश्चात् उन दोनों का विवाह हो जाता है।

'वेणीसंहार' के रचयिता भट्टनारायण का प्रादुर्भाव संभवतः आठवीं शती में हुआ। इस नाटक में महाभारत की प्रमुख घटनाओं का गौणरूप से चित्रण किया गया है। प्रधान रूप से इसमें भीम के द्वारा दुर्योधन का वध और उसके रक्त से रंजित हाथों से द्रौपदी की वेणी का सँवारना वर्ण्य विषय हैं। सारे नाटक में भयानक वातावरण की सृष्टि की गई है।

वेणीसंहार पाण्डित्यपूर्ण नाटक है। इसका उपयोग नाट्य-शास्त्र के रचयिताओं के द्वारा नाटकीय पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या करते समय उदाहरण देने के लिये हुआ है।

भारतीय नाट्य-साहित्य में मुद्राराक्षस नाटक का ऊँचा स्थान है। इसकी रचना निश्चय ही ९ वीं शती के पहले हुई, कब हुई— यह निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता। कथा-वस्तु, शैली और नाट्य-कला की दृष्टि से यह नाटक अपूर्व ही है। इसमें प्रेमकथा

नाम की कोई वस्तु नहीं, केवल एक स्त्री पात्र है। एकमात्र राजनीति की कुटिलताओं का चक्र चलता है। राजनीति के दो चतुर खिलाड़ी चाणक्य और राक्षस अपनी-अपनी चालें दिखाते हैं। राक्षस चन्द्रगुप्त मौर्य को मार डालना चाहता है और चाणक्य राक्षस को चन्द्रगुप्त का मन्त्री बना देना चाहता है। अन्त में चाणक्य सफल होता है।

आठवीं शती के उत्तर भाग में अनंग हर्ष नामक नाटककार ने 'तापस वत्सराज' नाटक की रचना भास के स्वप्नवासवदत्त की कथा-वस्तु के आधार पर की। इस नाटक में शैली काव्यमयी है।

उपर्युक्त नाटककारों के पश्चात् नाट्य-साहित्य की अवनति का युग आरम्भ होता है। इस युग में मुरारि और राजशेखर प्रसिद्ध नाटककार हुए। मुरारि नवीं शती के अन्त अथवा दसवीं शती के आरम्भ में हुआ। मुरारि के लिखे हुए नाटक अनर्घराघव में रामायण की कथा सात अंकों में कही गई है। भवभूति की रचनाओं के समक्ष अनर्घराघव फीका पड़ गया है। फिर भी मुरारि की काव्यमयी प्रतिभा के अच्छे प्रमाण इस नाटक में भरे पड़े हैं।

राजशेखर का प्रादुर्भाव नवीं शती के अन्त और दसवीं शती के प्रारम्भ में हुआ। राजशेखर के लिखे हुए दो संस्कृत के नाटक—बालरामायण और बालभारत तथा एक नाटिका विद्धशालभञ्जिका मिलती हैं। दोनों नाटकों में क्रमशः रामायण और महाभारत की कथा कही गई है। विद्धशालभञ्जिका में विद्याधरमल्ल और मृगाङ्कवती की विवाह-कथा मिलती है। इन सभी कृतियों को नाट्य कला की दृष्टि से सफल

नहीं कहा जा सकता, पर इसमें उच्चकोटि की कवितायें अवश्य मिलती हैं।

महाकाव्य

अब तक जिन काव्यों का उल्लेख किया गया है, वे सभी दृश्य कोटि में आते हैं। दृश्य कोटि का यह कदापि तात्पर्य नहीं है कि वे पढ़े या सुने नहीं जाते थे अथवा केवल अभिनय किये जाने पर ही उनका रसास्वादन किया जाता था। दृश्य का केवल यही तात्पर्य है कि उनका अभिनय के द्वारा रसास्वादन हो सकता था। काव्य का दूसरा भेद श्रव्य है। श्रव्य काव्य का रसास्वादन केवल पढ़ने या सुनने से होता है। श्रव्य का अर्थ है सुनने के योग्य। यह नाम उस युग का स्मारक है, जब किसी महाकवि की रसवती काव्य-लहरी को पढ़े जाते हुये सुनने के लिये रसिक लोगों की परिषद् इकट्ठी होती थी। श्रव्य काव्य दो प्रकार के होते हैं—पद्यमय और गद्यमय। पद्यकोटि में सर्व-प्रथम 'महाकाव्य' श्रेणी की रचनायें आती हैं।

महाकाव्य का नाम प्रारम्भ में सर्ग-बन्ध था। यह नाम इस कोटि की रचना की बाह्य रूप-रेखा देखकर रखा गया था। काव्यत्व की उत्कृष्टता और प्रधानता की दृष्टि से आगे चल कर महाकाव्य नाम पड़ा, जो अधिक उपयुक्त होने के कारण प्रचलित हो कर रहा। महाकाव्य में नायक देव अथवा मानव कोटि का होता है। वह उदात्त गुणों से समन्वित होता है। इसमें शृंगार, वीर और शान्त में से कोई एक प्रमुख रस होत है, अन्य सभी रस गौण बन कर आ सकते हैं। इसकी कथा-वस्तु कवि-कल्पित नहीं होती, अपितु वह प्राचीन ग्रन्थ—वैदिक

साहित्य, पुराण और इतिहास आदि से ली जाती है। महाकाव्य में मानव-जीवन के चतुर्वर्ग धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का वर्णन होता है। इनमें से कोई एक फल-स्वरूप ग्रहण किया जाता है।

महाकाव्य का प्रारम्भ देवताओं के लिये नमस्कार अथवा श्रोताओं के लिये आशीर्वाद से होता है। सीधे ही कथा-वस्तु का निर्देश भी कर दिया जाता है। इसमें स्थान-स्थान पर दुष्ट लोगों की निन्दा और सज्जनों का गुण-कीर्तन होता है।

महाकाव्य के सर्गों में लगभग ८० श्लोक होते हैं। सारे महाकाव्य में आठ से अधिक सर्ग होते हैं। सर्ग में प्रारम्भ से अन्त के थोड़ा पहिले तक प्रायः एक ही छन्द के श्लोक मिलते हैं, सर्ग का अन्त होते समय किसी दूसरे छन्द में दो चार श्लोकों की रचना कर दी जाती है। किसी-किसी सर्ग में अनेक छन्दों में लिखे हुए श्लोक भी मिलते हैं। सर्ग के अन्त में भावि-सर्ग की कथा की सूचना दे दी जाती है।

महाकाव्य में प्रकृति और मानव के द्वारा रची हुई सारी मनोरम, प्रभावोत्पादक और ऐश्वर्य-शालिनी वस्तुओं का सांगोपांग वर्णन होता है। सन्ध्या, चन्द्रमा, रात्रि; प्रदोष, अन्धकार, सूर्य, प्रातःकाल, दिन, मध्याह्न, मृगया, पर्वत, ऋतु, वन, समुद्र, सम्भोग, वियोग, मुनि, स्वर्ग, नगर, यज्ञ, युद्ध, यात्रा, विवाह, मन्त्रणा, पुत्रोत्पत्ति और अभ्युदय आदि यथावसर वर्णनीय विषय हैं।

महाकाव्य का नाम कवि के नाम पर, कथा के चरित के नाम पर अथवा चरित-नायक के नाम पर पड़ता है। सर्ग के नाम भी वर्ण्य विषय के नाम पर रखे हुए मिलते हैं।

महाकाव्य साहित्य का सर्वप्रथम ग्रन्थ वाल्मीकि का रामायण है। यह आदि महाकाव्य है। रामायण सर्ग और काण्डों में विभाजित है, यह कथा-वस्तु, रस, वर्णन और शैली की दृष्टि से अपनी कोटि का सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ है। भारत तथा निकटवर्ती देशों में यह ग्रन्थ सदा लोकप्रिय रहा है। इसके चरित-नायक राम विष्णु के अवतार हैं। राम की चरित-गाथा पुण्यदायिनी है। परवर्ती भारतीय साहित्यकार कथा-वस्तु के लिये महाभारत की भाँति रामायण पर भी प्रायः अवलम्बित रहे हैं। इसमें लगभग २५००० श्लोक हैं।

रामायण की रचना का समय अभी तक सुनिश्चित नहीं है। समय-समय पर इसमें परवर्ती साहित्यकारों ने अपनी रचनाओं को चतुरता के साथ जोड़ा भी है। ऐसा प्रतीत होता है कि ई० पू० आठवीं शती के लगभग इसका प्रणयन वाल्मीकि ने किया था।

रामायण के पश्चात् पहली शती ई० में अश्वघोष के लिखे हुए दो महाकाव्य बुद्धचरित और सौन्दरनन्द मिलते हैं। इन दोनों महाकाव्यों के पूर्वार्ध की रचना महाकाव्य शैली के अनुसार हुई है, पर उत्तरार्ध में बौद्ध दर्शन के अनुसार मानव-व्यक्तित्व के विकास करने के लिये दर्शन की शिक्षायें छन्दोबद्ध मिलती हैं। बुद्ध-चरित में गौतमबुद्ध का जीवन-चरित कथा-वस्तु के रूप में लिया गया है। सौन्दरनन्द में गौतम बुद्ध के भाई नन्द के बुद्ध, धर्म और संघ की शरण में आ जाने की कथा है। नन्द राजकुमार हैं, उनकी पत्नी सुन्दरी वास्तव में सुन्दरी है, उसके प्रेम-पाश में बँध कर नन्द भोग-विलास-मय जीवन के सर्वोच्च सोपान पर स्थित हैं, उसी समय बुद्ध आकर उन्हें प्रेम-

पाश से मुक्त करने की चेष्टा करते हैं। नन्द भी वारंवार सुन्दरी का स्मरण करते हैं, पर स्वर्ग की देवाङ्गनाओं को सुन्दरी से भी अधिक सुन्दरी देख कर उनके लिये तपश्चर्या करने लगते हैं। तप से उनकी शुद्धि हो जाती है और उनका चित्त स्थिररूप से बुद्ध के प्रतिपादित मार्ग पर लग जाता है।

अश्वघोष ने महाकाव्य को निखरा हुआ स्वरूप दिया। वाल्मीकि का महाकाव्य अत्यन्त विशाल है, अश्वघोष का महाकाव्य सीमित और सुघटित है।

अश्वघोष के पश्चात् कालिदास के दो महाकाव्य—रघुवंश और कुमारसंभव मिलते हैं। 'रघुवंश' में नाम के अनुसार ही रघुवंश के राजा दिलीप से लेकर रघु, अज, दशरथ, राम, कुश आदि अनेक राजाओं का वर्णन मिलता है। ऐसी परिस्थिति में इनमें से प्रत्येक के जीवन की झलकमात्र मिलती है। राम की कथा रामायण के आधार पर कुछ विस्तार से कही गई है, पर ऐसा होने पर भी वह इतनी संक्षिप्त है कि कई स्थानों पर जीवन-वृत्त की गणना मात्र रह गई है। कालिदास ने प्रायः पूर्वार्ध में उच्चकोटि की काव्य-प्रतिभा की प्रतिष्ठा की है।

कुमारसंभव में कुमार कार्तिकेय के संभव (जन्म) की कथा पूर्वार्ध में मिलती है। कुमार के जन्म के लिये देवताओं को श्रम करना पड़ा। शिव को विवाह करने के लिये उद्यत करने के प्रयास में कामदेव को उनके तीसरे नेत्र के तेज से भस्म होना पड़ा। अन्त में पार्वती की तपस्या और अनुष्ठान से प्रसन्न होकर शिव ने उससे विवाह कर लिया। उत्तरार्ध में कार्तिकेय के द्वारा तारकासुर के वध की कथा दी गई है।

कालिदास ने इन दोनों महाकाव्यों में मानव-जीवन के उस उदार पक्ष को उपस्थित किया है, जो उसको एकान्तता की संकीर्ण

सीमा से उठाकर अनन्त की ओर अग्रसर कर देता है। जिस किसी वस्तु को कवि ने अपनी आँखों से देखा, वह उसे उदार प्रतीत हुई, वह अपना सर्वस्व त्याग करती हुई प्रतीत हुई—केवल अपने अस्तित्व की सफलता के लिये जो एकमात्र त्याग में है। सृष्टि की स्वाभाविक निर्बाध गति के मौलिक साधन-तत्त्व को कवि ने पहचाना था और अपने दर्शन को काव्य-रूप में अमर करने में सफल हुआ।

कालिदास के पश्चात् छठीं शताब्दी में भारवि ने किराता-र्जुनीय नामक महाकाव्य की रचना की। इसमें किरातवेषधारी शिव और तपस्वी अर्जुन का युद्ध कथा-वस्तु के रूप में ग्रहण किया गया है। कथा का मूल महाभारत है। भारवि के अर्थगौरव की प्रशंसा की गई है। कवि को शब्दों के चयन और विशद वर्णन में अच्छी सफलता मिली है। भारवि की कल्पनायें प्रायः स्वाभाविक हैं। कवि का काव्य-जगत् भूतल से बहुत ऊँचा है।

सातवीं शती के उत्तरार्ध में माघ ने शिशुपाल-वध नामक महाकाव्य की रचना की। इसकी कथा महाभारत से ली गई है। कृष्ण देवताओं के अनुरोध करने पर शिशुपाल के वध करने का निश्चय कर तो लेते हैं, पर उसी समय युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में आने का निमन्त्रण पाकर सेना सहित इन्द्रप्रस्थ के लिये प्रस्थान कर देते हैं। वहीं शिशुपाल भी निमन्त्रित होकर आता है। शिशुपाल की धृष्टता से युद्ध छिड़ जाता है और शिशुपाल का कृष्ण के द्वारा वध होता है। शिशुपाल-वध की रचना किरातार्जुनीय के आदर्श पर हुई है। माघ की प्रतिभा निःसन्देह उत्कृष्ट थी। यदि माघ किरातार्जुनीय का अनुकरण न करते हुए स्वतन्त्र रूप से लिखता तथा युग के

प्रभावों से बच सका होता तो उसकी प्रतिभा की प्रतिष्ठा और अधिक होती। माघ की रचना देखकर पाठक उसकी अगाध विद्वत्ता और पाण्डित्य से चकित हो उठता है। वह तत्कालीन सभी शास्त्रों और विज्ञानों का महान् आचार्य था।

माघ के पश्चात् श्रीहर्ष नामक महाकवि ने 'नैषधीय चरित' महाकाव्य की रचना बारहवीं शती के उत्तरार्ध में की। नैषधीय चरित में राजा नल और दमयन्ती की कथा का वर्णन है। मूल कथा महाभारत से ली गई है। हर्ष की रचनायें साधारण प्रतिभा के पाठकों के लिये नहीं हैं। काव्य-कला के प्रदर्शन के लिये कवि ने ऐसी दुरूह सरणी का अवलम्बन किया है, जिस पर चलना सरल नहीं है। श्लेष अलंकार के द्वारा एक ही श्लोक के पाँच अर्थ की कल्पना श्री हर्ष जैसे महाकवि का ही काम है। कवि की कल्पना अद्वितीय है।

गीति-काव्य

संस्कृत के गीति-काव्य की परम्परा वैदिक काल से ही चली आ रही है। इस कोटि के काव्य दो प्रकार के हैं—खंड-काव्य और मुक्तक। खंड-काव्य महाकाव्य के टुकड़े के समान होता है। मेघदूत इस कोटि की सर्वप्रथम रचना है। इसमें विरही यक्ष की कथा का वर्णन है जो मेघ को दूत बनाकर अपनी पत्नी के पास भेजता है। इस काव्य में काव्यात्मक वर्णन की इतनी अधिकता है कि कथा-वस्तु गौण पड़ गई है। कालिदास का ऋतुसंहार भी उपर्युक्त कोटि की रचना है। इसमें छः ऋतुओं का सांगोपाङ्ग वर्णन किया गया है। इन ऋतुओं का मानव-जीवन पर जो प्रभाव पड़ता है, उसका सरस चित्रण करने में कवि की कल्पना सफल है।

सातवीं शती में भर्तृहरि ने मुक्तक शैली में तीन शतक—नीति, शृंगार, और वैराग्य की रचना की। नीति-शतक लौकिक व्यवहार में दक्षता प्रदान करने के लिये है। भर्तृहरि की नीति उदात्त है, जैसा कि उनके नीचे लिखे नीति-पथ से प्रतीत होता है :—

परगुणपरमाणून् पर्वतीकृत्य नित्यं
निजहृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः।

शृंगार-शतक में पुरुष और नारी के भोगविलासों का चित्रण किया गया है। भर्तृहरि ने शृंगार की थोथी प्रवृत्तियों का भी परिचय दिया है। वैराग्य-शतक में व्यक्तित्व के विकास की योजना को दृष्टि-पथ में रखकर अनासक्ति की प्रशंसा की गई है। नीति-शतक सामाजिक जीवन के लिये, शृंगार-शतक दाम्पत्य-जीवन के लिये तथा वैराग्य-शतक वैयक्तिक और आध्यात्मिक जीवन के लिए सन्देश देते हैं। भर्तृहरि की शैली मनोहारिणी और हृदय-ग्राहिणी है।

संभवतः भर्तृहरि के समकालीन अमरुक ने शृंगारमय मुक्तकों का एक शतक लिखा, जो उसीके नाम से अमरुशतक विख्यात हुआ। इसमें मानव-हृदय की शृंगारमयी प्रवृत्तियों का विशद चित्रण किया गया है।

बारहवीं शती में गोवर्धनाचार्य ने आर्यासप्तशती की रचना की। पहली शती ईसवी में लिखी हुई हाल की गाथा सप्तशती के आदर्श पर आर्यासप्तशती का प्रणयन हुआ है। सप्तशती में शृंगाररस की आर्याओं कीप्र चुरता है।

गोवर्धनाचार्य के समकालीन जयदेव ने गीत गोविन्द की रचना की। इसमें कवि को भक्ति और शृंगार दोनों का एकत्र

सामंजस्य करने में पर्याप्त सफलता मिली है। भक्ति के आराध्य गोविन्द (कृष्ण) हैं और उनकी प्रेमिका राधा के साथ शृंगारमयी लीलाओं का प्रादुर्भाव होता है। संस्कृत के काव्य-साहित्य में जयदेव अपनी कोमल कान्त और संगीतमयी पदावली के लिये सर्वोत्कृष्ट गिने गये हैं। इनकी पदावली का परिचय केवल इतने से ही मिल सकता है—

'ललितलवंगलतापरि-शीलनकोमलमलयसमीरे'

गीत गोविन्द में १२ सर्ग हैं।

स्तोत्र

गीति काव्य का समकक्ष स्तोत्र-साहित्य है। स्तोत्र भक्त कवियों के अपने आराध्य देव के प्रति मार्मिक हृदयोद्गार हैं। स्तोत्र के प्राथमिक आदर्श कालिदास के रघुवंश और कुमारसम्भव में मिलते हैं। इसके पश्चात् सातवीं शती में लिखा हुआ मयूर भट्ट का 'सूर्य-शतक' स्तोत्र मिलता है। इसमें सूर्य की सौ श्लोकों में स्तुति की गई है। सातवीं शती में बाण भट्ट ने चण्डी-शतक के सौ श्लोकों में दुर्गा की स्तुति की है।

स्तोत्र-साहित्य के रचयिताओं में शङ्कर का नाम सर्वोच्च है। उन्होंने विष्णु, शिव, गणपति, शक्ति और हनुमान आदि अनेक आराध्य देवों की स्तुतियाँ लिखी हैं। शङ्कर के पश्चात् दक्षिण भारत में कुल-शेखर और यामुनाचार्य नामक प्रसिद्ध स्तोत्रकार हुये हैं। इनके स्तोत्र वैष्णव धर्म सम्बन्धी हैं। यामुनाचार्य वैष्णव धर्म के प्रतिष्ठापक रामानुज के गुरु थे।

गद्य-काव्य

संस्कृत के गद्य-साहित्य में कथा और आख्यायिका नामक दो कोटि की रचनायें मिलती हैं। कथा का इतिवृत्त काल्पनिक

होता है और आख्यायिका के इतिवृत्त में प्रायः ऐतिहासिकता की पुट होती है। उपर्युक्त कोटि के गद्य-काव्य के तीन लेखक दण्डी, सुबन्धु और बाण सातवीं शती में हुए। दण्डी ने दश-कुमार-चरित की रचना की। इसमें दस राजकुमारों के भ्रमण की कथा दी हुई है। भ्रमण करते हुए अन्त में वे सभी एकत्र होते हैं और अपनी-अपनी साहस की कहानी सुनाते हैं। कहानियाँ हास्य और अद्भुत रस से पूर्ण हैं। शैली की दृष्टि से यह काव्य संस्कृत के गद्य-साहित्य की सर्वोच्च कोटि में रखा जाता है। दण्डी की पदावली मधुर है और शब्दों का प्रयोग असाधारण रूप से यथोचित है।

सुबन्धु ने वासवदत्ता नामक कथा लिखी है। इसमें कन्दर्प-केतु नामक राजकुमार और वासवदत्ता की कथा दी हुई है। नायक स्वप्नलोक की वासवदत्ता की खोज में भ्रमण करता हुआ मैना पक्षी के अपनी स्त्री से कहे हुए आख्यान में प्रियतमा का परिचय पाकर अन्त में अनेक साहसपूर्ण पराक्रमों के पश्चात् उसे प्राप्त करता है। इस ग्रन्थ में कथा-वस्तु का आलम्बन मात्र लेकर कवि ने शब्द और अर्थ सम्बन्धी अपने अगाध पाण्डित्य का सफल प्रदर्शन किया है। लम्बे-लम्बे वर्णनों के बीच कथा का सूत्र ढूँढ़ लेना भी प्रायः असंभव सा ही है। सुबन्धु ने स्वयं लिखा है कि इसके प्रत्येक अक्षर में श्लेष है। शैली, भाषा और भाव में स्वाभाविकता का अभाव प्रायः खटकता है।

बाण की लिखी हुई हर्षचरित नामक आख्यायिका और कादम्बरी नामक कथा अपनी कोटि की रचनाओं के लिये आदर्श-स्वरूप हैं। हर्षचरित में बाण ने अपने आश्रयदाता महाराज हर्षवर्धन का वर्णन किया है और भूमिका के रूप में अपना परिचय दिया है। कादम्बरी के दो खण्ड हैं—पूर्वार्ध

और उत्तरार्ध। पूर्वार्ध तो स्वयं बाण की रचना है, पर उत्तरार्ध बाण के पुत्र पुलिन्द भट्ट की रचना है। कादम्बरी में पुण्डरीक (वैशम्पायन) तथा महाश्वेता और चन्द्रापीड तथा कादम्बरी की प्रेम-कथाओं का वर्णन है। कथा में अलौकिकता का विशेष चमत्कार है। मर-मर कर जीना और पुनः पूर्वजीवन की प्रेम-सरणी पर चलना—यही बाण की कला है।

संस्कृत-साहित्य में बाण की शैली सर्वोत्कृष्ट मानी गई है। बाण को शब्दों और उनके अर्थों पर पूरा अधिकार था। इन्हीं के चमत्कार का प्रदर्शन वह पाठक को कराता है। परिणाम यह हुआ है कि कथा नाम-मात्र के लिये रह गई है। बाण के वर्णनों में सूक्ष्म निरीक्षण एवं अनुभूतियों के परिचायक विशेषणों का बाहुल्य है।

चम्पू-काव्य

गद्य और पद्य दोनों का समन्वय करते हुए चम्पू नामक एक और काव्य की कला है। दसवीं शती में त्रिविक्रमभट्ट ने नल-चम्पू अथवा दमयन्ती-कथा की रचना की। इसमें नल-दमयन्ती की कथा दी हुई है। शैली और भाषा की दृष्टि से इसमें बाण और सुबन्धु की रचनाओं का अनुकरण-मात्र है। दसवीं शती में सोमप्रभ सूरि का लिखा हुआ यशस्तिलक-चम्पू नामक ग्रन्थ है। इसमें अवन्ती के राजा यशोधर की कथा दी हुई है। इसमें जैन धर्म की शिक्षाओं का भी कथा-प्रवाह के साथ समन्वय किया गया है।

कथा-साहित्य

गद्य-काव्य में प्रायः कथाओं का समावेश हुआ। उन कथाओं के अतिरिक्त भी असंख्य कथायें महाभारत, रामायण तथा पुराणों

में मिलती हैं। कथायें प्रायः विषय का प्रतिपादन करने के लिये उदाहरण स्वरूप संगृहीत हैं। स्वतन्त्र रूप से भी कथा-साहित्य का विभिन्न दिशाओं में विकास हुआ। सबसे पहले छोटी कथाओं का संग्रह पंचतन्त्र में मिलता है। पंचतन्त्र की कथाओं में प्रायः पशु-पक्षियों के व्यवहार और बातचीत के आधार पर नीति की शिक्षायें दी गई हैं। इसमें पाँच अध्याय—मित्रभेद, मित्र-सम्प्राप्ति, काकोलूकीय, लब्ध-प्रणाश और अपरीक्षितकारक हैं। पंचतन्त्र की भाषा सरल है, कथायें प्रायः गद्य में लिखी हुई हैं, बीच-बीच में नीति के श्लोक दिये गये हैं। पंचतन्त्र की रचना संभवतः ईसा की दूसरी या तीसरी शताब्दी में हुई थी।

पद्यात्मक कथाओं का एक विशाल संग्रह पैशाची भाषा में बृहत्कथा के नाम से गुणाढ्य नामक कवि ने संभवतः चौथी शती में किया। यह मौलिक ग्रन्थ तो अब नहीं मिलता, पर इसके संस्कृत रूपान्तर ग्यारहवीं शती में लिखी हुई क्षेमेन्द्र की बृहत्कथा मंजरी और सोमदेव की कथासरित्सागर में प्राप्त होते हैं। क्षेमेन्द्र की कृति संक्षिप्त है, पर सोमदेव ने लगभग २१००० श्लोकों में कथासरित्सागर की रचना की है। सोमदेव की शैली सरस और सरल है। इसमें मूलरूप में उदयन के पुत्र नरवाहनदत्त के साहसपूर्ण पराक्रमों का वर्णन है। लगभग इसी समय की लिखी हुई कहानियों का संग्रह वेतालपंचविंशतिका (बैताल-पचीसी) शुक-सप्तति तथा सिंहासनद्वात्रिंशिका (सिंहासन-बत्तीसी) आदि भी हैं।

बौद्ध धर्मावलम्बी लेखकों ने बुद्ध की पूर्व-जन्म-सम्बन्धी कथाओं का प्रणयन किया है। ऐसी कथाओं के संग्रह दिव्यावदान,

अवदान शतक और जातक माला में मिलते हैं। ये कथायें संभवतः चौथी शती ईसवी के आसपास लिखी गईं।

प्राकृत साहित्य

संस्कृत भाषा जब साधारण लोगों की भाषा से इतनी भिन्न हो गई कि वे उसे सरलता से नहीं समझ सकते थे, तभी प्राकृत साहित्य की रचना का आरम्भ हुआ। सबसे पहले गौतम बुद्ध ने जन-भाषा को अपनाया और उन्हीं की भाषा में उपदेश देना प्रारम्भ किया। महावीर स्वामी ने भी जन-भाषा को ही महत्त्व दिया। परिणामतः उन्हीं के समय से जैन और बौद्ध साहित्य की रचना जन-भाषा में होने लगी।

पालि-भाषा में महात्मा गौतम बुद्ध के उपदेशों का संग्रह 'त्रिपिटक' नाम से विख्यात है। त्रिपिटक में सुत्त, विनय और अभिधम्म नामक तीन पिटक हैं। सुत्तपिटक में बुद्ध के उन उपदेशों का संग्रह है जो प्रायः कथा के रूप में विभिन्न समयों पर कहे गये हैं। विनयपिटक में उन शिक्षाओं का संग्रह है जो संघ के संचालन के लिये उपयोगी थीं। अभिधम्म पिटक बौद्ध दर्शन का ग्रन्थ है। इन पिटकों का भाष्य अट्ठकथा (अर्थ-कथा) में मिलता है।

ईसा की पहली शती के लगभग मिलिन्दपञ्ह (मिलिन्दप्रश्न) नामक दर्शन के ग्रन्थ की रचना नागसेन ने की। इस ग्रन्थ की शैली प्रश्नोत्तरमयी है। इसमें नागसेन और ग्रीक राजा मिलिन्द की दर्शन-सम्बन्धी बातचीत संगृहीत है। इसी समय के आस-पास महाकच्चान ने नेत्तिपकरण नामक ग्रन्थ में गौतम बुद्ध के सारे उपदेशों का संगह किया है।

जैन धर्म के ग्रन्थों की भाषा आर्ष या अर्धमागधी है। इन ग्रन्थों में प्राचीनता की दृष्टि से बारह अंग, बारह उपांग, दस प्रकीर्ण, छः छेद सूत्र और चार मूल सूत्र हैं। इन ग्रन्थों में दर्शन तथा धर्म के उन्नायकों का वर्णन है।

जैन महाराष्ट्री प्राकृत में पउमचरिउ की रचना पौराणिक शैली पर लगभग तीसरी शती ईसवी में हुई। इसमें पद्म (राम) की कथा जैन धर्म और दर्शन के अनुकूल मिलती है। प्राकृत के अन्य पुराण संघदास की वसुदेव हिण्डी (६०० ई० के पहले) शीलाचार्य का महापुरुष चरित (८६८ ई०) आदि हैं।

महाराष्ट्री प्राकृत में सेतुबन्ध नामक महाकाव्य सर्वोच्च प्रतिष्ठित है। इसमें राम की कथा सुग्रीव के अभिषेक से लेकर रावण वध के पश्चात् राम के अयोध्या लौटने तक बाल्मीकि रामायण के आधार पर कही गई है। इसकी रचना चौथी या पाँचवीं शती में प्रवरसेन नामक वाकाटक वंश के राजा ने की थी।

महाराष्ट्री प्राकृत का दूसरा महाकाव्य वाक्पतिराज का गौड-वध है। इसकी रचना आठवीं शती में हुई थी। हेमचन्द्र ने बारहवीं शती में कुमारपाल-चरित नामक महाकाव्य लिखा।

शौरसेनी और महाराष्ट्री प्राकृत में राजशेखर ने दसवीं शती में कर्पूरमंजरी नामक सट्टक लिखा। प्राकृत भाषा का यह सर्व-प्रथम सट्टक है।

हाल की गाथा-सप्तशती प्राकृत गीति-साहित्य की सर्वप्रथम रचना है। इसमें गाथा-छन्द में लगभग ७०० फुटकल पद्यों में प्रायः तत्कालीन शृंगारमयी प्रवृत्तियों का चित्रण किया गया है। गाथा-सप्तशती का प्रभाव इस कोटि की परवर्ती रचनाओं पर पड़ा है। इसकी रचना संभवतः प्रथम शती ईसवी में हुई।

प्राकृत भाषा की सबसे अधिक विकसित रूप-रेखा अपभ्रंश में मिलती है। इस भाषा में जो साहित्य आजकल मिलता है, वह प्रायः जैन धर्म सम्बन्धी है। प्रायः जैन धर्म के तीर्थङ्करों, मुनियों और अन्य उन्नायकों के जीवन-चरित की प्रतिष्ठा चरिउ (चरित) और कहा (कथा) साहित्य में की गई है। अपभ्रंश साहित्य बहुत विशाल है। इसमें स्वयंभू और उनके पुत्र त्रिभुवन स्वयंभू के आठवीं शती में लिखे हुये पउमचरिउ और हरिवंश पुराण सर्वप्रथम रचनायें हैं, जो उच्चकोटि की कही जा सकती हैं। दसवीं शती में पुष्पदन्त ने महापुराण, जसहरचरिउ, औरणायकुमार-चरिउ की रचना की।

काव्य-शास्त्र

काव्य-शास्त्र का सर्वप्रथम ग्रन्थ भरत का नाट्य-शास्त्र है। नाट्य-शास्त्र की रचना ईसवी शती के पहले ही हुई थी। इस विशाल ग्रन्थ में नाटक के सम्बन्ध में सभी बातों का सरल भाषा में विवेचन मिलता है। इसमें रस और अलंकार का भी आनुषंगिक रूप से पूरा परिचय दिया गया है।

भरत के पश्चात् सातवीं शती के आस पास भामह ने काव्यालंकार नामक ग्रन्थ में काव्य के लक्षण, अलंकार, दोष, आदि का विशद विवेचन किया। भामह के कुछ ही वर्षों के पश्चात् दण्डी ने काव्यादर्श नामक ग्रन्थ की रचना की। इन्होंने भी प्रायः भामह की पद्धति का अनुसरण किया। रीति और अलंकारों का स्पष्ट विवेचन दण्डी की विशिष्टता रही। आठवीं शती में काव्यालंकार-सूत्र-वृत्ति में वामन ने दण्डी की 'रीति' को काव्य की आत्मा माना। वामन के समकालीन उद्भट ने काव्य में अलंकार को सबसे अधिक चमत्कारी माना। उद्भट ने

काव्यालंकार-सार-संग्रह नामक ग्रन्थ की रचना की। रुद्रट ने भी काव्य के सभी लक्षणों का विशद विवेचन किया है और अलंकार को काव्य में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण माना है।

नवीं शती में आनन्दवर्धन ने काव्य में व्यंजना की प्रतिष्ठा की। इस सम्बन्ध में ध्वन्यालोक में रस, औचित्य और ध्वनि की समीक्षा की गई है। आनन्दवर्धन का रस और ध्वनि-सिद्धान्त परवर्ती आचार्यों द्वारा ग्रहण किया गया। दसवीं शती में अभिनव गुप्त ने ध्वन्यालोक की मार्मिक टीका लिखी। इसी शती में राजशेखर ने काव्य-मीमांसा नामक ग्रन्थ में काव्य के तत्त्वों की समीक्षा अत्यन्त स्पष्ट और मनोहारिणी शैली में की है।

बारहवीं शती में मम्मट ने काव्य-प्रकाश की रचना की। मम्मट ने आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त की सिद्धान्तों को अपनाकर इस ग्रन्थ में काव्य के सभी अंगों का पर्यालोचन किया है। काव्य प्रकाश, काव्य-शास्त्र में विशेष रूप से प्रतिष्ठित हुआ।

व्याकरण

सूत्र-साहित्य का विवेचन करते समय पाणिनि की अष्टाध्यायी का नाम आ चुका है। पाणिनि की अष्टाध्यायी को मूल मान कर संस्कृत भाषा का व्याकरण विकसित होता रहा। ई० पू० ४०० के लगभग कात्यायन ने वार्तिक रूप में सूत्रों की रचना करके पाणिनि के १५०० सूत्रों में दोष दिखा कर शुद्ध नियम निर्धारित किये। ये वार्तिक पाणिनि के अष्टाध्यायी के अध्ययन करते समय विशेष उपयोगी सिद्ध होते हैं। ई० पू० दूसरी शती में पतंजलि ने पाणिनि के सूत्रों को निर्दोष सिद्ध किया और संस्कृत भाषा का दार्शनिक विवेचन किया। पतंजलि की शैली

अत्यन्त सुगम और मनोरम है। पाणिनि, कात्यायन और पतंजलि को व्याकरण का मुनित्रय कहा गया है।

सातवीं शती के लगभग वामन और जयादित्य ने अष्टाध्यायी पर काशिका नामक टीका लिखी और सूत्रों के सम्बन्ध में अनेक उदाहरण दिये। काशिका की आगे चल कर अन्य टीकायें लिखी गईं।

भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में भाषा का दार्शनिक विवेचन और मूलतत्त्वों की खोज वैज्ञानिक ढंग से की। कैयट ने महाभाष्य-प्रदीप में उपर्युक्त विषय की और छानबीन की है। नागेशभट्ट ने प्रदीप की टीका लिखी। इनके व्याकरण-सम्बन्धी ग्रन्थ—प्रदीपोद्योत, वैयाकरण-सिद्धान्त-मंजूषा और परिभाषेन्दुशेखर मिलते हैं।

उपर्युक्त टीकाओं के पश्चात् कौमुदी-युग का आरम्भ होता है। भट्टोजिदीक्षित ने १६५० ई० के आसपास सिद्धान्त-कौमुदी की रचना की।

धर्म-शास्त्र

धर्म-शास्त्र का सर्वप्रथम सुव्यवस्थित रूप 'कल्प' नामक वेदांग में मिलता है। इन्हीं के आधार पर स्मृतियों की रचना हुई। स्मृतियों में मनुस्मृति सर्वप्रथम है। इसकी रचना २०० ई० पू० से लेकर २०० ई० तक कभी हुई होगी। मनुस्मृति के बारह अध्यायों में वर्णाश्रम-धर्म तथा राजधर्म का अनुशीलन किया गया है। याज्ञवल्क्य-स्मृति (२०० ई०—३०० ई०) में आचार-व्यवहार तथा प्रायश्चित्त का विशद विवरण मिलता है। पराशर-स्मृति भी लगभग इसी समय लिखी गई। इनके अतिरिक्त भी अनेक स्मृतियाँ समय-समय पर लिखी गईं।

धर्म-शास्त्र से मिलता-जुलता कौटिल्य का अर्थ-शास्त्र है। इसमें प्रधान रूप से राजनीति की चर्चा की गई है। इसकी रचना ई० पू० चौथी शती में हुई थी।

धर्म-शास्त्र से सम्बद्ध काम-शास्त्र भी माना जा सकता है। इस कोटि का सर्वप्रथम ग्रन्थ वात्स्यायन रचित कामसूत्र है। इसकी रचना भी लगभग तीसरी शती ई० पू० में हुई। कामसूत्र में नागरिक के भोग-विलासमय जीवन के लिये आवश्यक अच्छे घर, उद्यान, उत्सव और प्रेममयी क्रीडाओं की चर्चा की गई है।

लिपि

भारत में आज से लगभग ५,००० वर्ष पहले लिखने का प्रचलन था जैसा कि सिन्धु-सभ्यता के लेखों से ज्ञात होता है। उस समय की लिखावट सुडौल, सुन्दर और परिपुष्ट है और बहुत कुछ चित्रकारी जैसी सजी-धजी दिखाई देती है। इस सभ्यता की लिपि का विकास कैसे हुआ—इस विषय में अभी पर्याप्त ज्ञान नहीं है क्योंकि उसके बाद लगभग २५०० वर्षों तक का कोई लेख अभी तक नहीं प्राप्त हो सका है। सबसे प्राचीन लेख, जो शिला पर लिखा हुआ है, पाँचवीं शती ई० पू० का है। यह लेख अजमेर के समीप बर्ली गाँव में प्राप्त हुआ था और जैन तीर्थङ्कर महावीर के निर्वाण-संवत् ८४ का लिखा हुआ है।

वैदिक काल की भारतीय लिपि का स्वरूप तत्कालीन लेखों के अभाव में ज्ञात नहीं है, पर इतना तो निश्चित प्रतीत होता है कि वे लोग लिखना जानते थे। संभवत: वैदिक शिक्षा पद्धति में मौखिक शिक्षण के साथ ही साथ पुस्तकों का भी उपयोग होता

था। पहले तो पुस्तकें ताडपत्र और भूर्जपत्र पर लिखी जाती थीं, पर ई० पू० चौथी शती से रूई का कागज बनना आरम्भ हो गया था।

भारत में प्राचीन समय में दो लिपियाँ खरोष्ठी और ब्राह्मी-प्रचलित थीं। खरोष्ठी लिपि की सबसे प्राचीन लिखावट अशोक के शिला-लेखों में भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश और पंजाब में मिलती हैं। शेष भारत में ब्राह्मी के शिलालेख पाये जाते हैं। अशोक के समय से लेकर तीसरी शती ईसवी तक खरोष्ठी का प्रचार इन प्रदेशों में रहा। इसके पश्चात् सदा के लिये वह लुप्त हो गई।

ब्राह्मी लिपि अशोक के समय से सदा ही भारतीय वाणी के व्यक्तीकरण का साधन रही है। वैसे तो कुछ विद्वान ब्राह्मी लिपि को अभारतीय मानते हैं। उनका सोचना है कि यह ग्रीक, असीरी अथवा सामी लिपियों से निकली है, पर गंभीर अनुसन्धानों के आधार पर यह अन्तिम निर्णय किया गया है कि वह पूर्णतः भारतीय है। भारत के आर्यों ने इसका आविष्कार किया था।

लगभग ई० पू० ५ वीं शती से ३५० ई० तक ब्राह्मी की एक शुद्ध धारा रही। इसके पश्चात् उत्तर भारत और दक्षिण भारत में इसकी दो धारायें निकलीं। उत्तर भारत की प्रमुख धारा नागरी लिपि है। इसका प्रचलन नवीं शती के आस-पास से आरम्भ होता है। नागरी से बंगला, कैथी, महाजनी, राजस्थानी, गुजराती आदि लिपियों का प्रादुर्भाव हुआ है।

भारतीय वर्णमाला विश्व में सर्वोत्तम गिनी जाती है।

इसमें वैज्ञानिक सूक्ष्मता के अनुसार स्वरों का विन्यास किया गया है। वर्णमाला और लिपि की उत्कृष्टता के ही कारण ऐसा सम्भव हो सका है कि जो लिखा जाय वही पढ़ा जाय। प्रत्येक ध्वनि के लिये एक एक अक्षर के होने से भारतीय लिपि को अद्भुत सुगमता प्राप्त हो सकी है।

कीरकाइ और पुहार आदि नौकाश्रयों से चलकर नाव पश्चिमी देशों में पहुँचते थे। उस लेखक के कथनानुसार सकोत्रा के द्वीप में भारतवासियों की एक बस्ती थी। प्लीनी ने रोम-राज्य और भारत के व्यापार की चर्चा की है। पांड्य राजा ने दूसरी शती ई० पू० में रोम के राजा आगस्टस के पास अपना दूत भेजा।

व्यापार के साथ ही साथ भारतीय संस्कृति का प्रसार उपर्युक्त देशों में हुआ। अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रचारकों को पश्चिमी एशिया, उत्तरी अफ्रीका और दक्षिण-पूर्वी योरप में भेजा। इन सभी देशों में धर्म का यथोचित मात्रा में प्रसार हुआ। अशोक के पश्चात् भी सिकन्दरिया में बौद्ध धर्म के अनेक विद्वान् थे। पश्चिमी एशिया में इस्लाम धर्म के प्रचार के पहले प्रायः सर्वत्र ही बौद्ध धर्म के अनुयायी थे। भारतीय दर्शन भी इसी प्रकार ग्रीस और मिस्र में प्रतिष्ठित हुआ। भारतीय संस्कृति को योरप और अफ्रीका में फैलाने का काम विशेषतः अरबों ने भी किया है। अरबी लोग भारतीय वस्तुओं का व्यापार इन देशों में करते थे, साथ ही वे भारतीय विद्याओं में पारङ्गत होकर उन देशों में प्रचार करते थे। भारतीय आयुर्वेद, अंक, दशमलव-पद्धति तथा कथा-साहित्य अरब होकर ही आज सारे विश्व में प्रतिष्ठित हुए हैं।

ईरानी और भारतीय आर्य भाषा और वंश की दृष्टि से एक ही वर्ग के हैं। ईरान की पह्लवी भाषा, जो फारसी का पूर्व रूप है, वेदों की संस्कृत से बहुत कुछ मिलती-जुलती है। ईरानी सेनाओं में भारतीय सैनिक रखे जाते थे। भारत और ईरान के राजा एक दूसरे के यहाँ राजदूत भी भेजते थे। ईरान में ही पंचतन्त्र का अनुवाद बुरजोई नामक विद्वान् ने ५३३ ई० में

किया। आठवीं शती में अरबी में इसका अनुवाद हुआ। इस अनुवाद का योरप की अन्य भाषाओं में पुनः अनुवाद हुआ।

सातवीं शती में ईरान पर मुसलमानों का आक्रमण होने पर जो ईरानी भारत में आ बसे उन्हें पारसी कहते हैं।

ईरान के राजा दारा का राज्य ग्रीस से लेकर भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश तक था। उस समय भारतीय सेनायें ईरानी राजाओं की अधीनता में ग्रीस तक जा पहुँचीं। ई० पू० ३२७ में जब ग्रीक राजा सिकन्दर मध्यवर्ती देशों को जीतता हुआ भारत आया, उस समय भारत और ग्रीस को निकटतम सम्पर्क में आने का अवसर मिला। इस सम्मेलन का लाभ दोनों देश-वासियों ने पूर्ण रूप से उठाया। ग्रीक राजाओं के राजदूत भारतीय राजाओं के यहाँ रहते थे। इनमें से सेल्यूकस के राजदूत मेगस्थनीज का नाम प्रसिद्ध है। यह चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन-काल में भारत में रहा। विद्वानों के निकटतम सम्पर्क में आने का परिणाम यह हुआ कि ग्रीक भाषा में अनेक ग्रन्थ प्राचीन भारत के सम्बन्ध में लिखे हुये अब भी मिलते हैं। भारतवासियों ने भी दर्शन, ज्योतिष और कला के क्षेत्र में ग्रीक विद्वानों से बहुत कुछ सीखा।

मध्य-एशिया से सम्बन्ध

मध्य-एशिया में भारतीय संस्कृति का प्रसार विशेष रूप से हुआ। कैस्पियन सागर से लेकर चीन की दीवाल तक जो विस्तृत भूभाग पहले अर्ध-सभ्य लोगों का विचरण क्षेत्र था, वहाँ बौद्ध धर्म की ध्वजा सहस्रों वर्ष तक फहराती रही। इस दिशा में केवल बौद्ध धर्म-प्रचारकों का ही श्रेय नहीं रहा, वरं कुशन वंशी राजा ओं ने भी धर्म के प्रसार में महान् योग दिया।

खोतान के आस-पास चारों ओर भारतवासियों की कृतियों के अवशेष मिलते हैं। इस प्रदेश में उस सुदूर प्राचीन काल में असंख्य स्तूप, विहार, मूर्तियाँ, पुस्तकालय आदि विराजमान थे। संस्कृति की दृष्टि से सारा प्रदेश भारत का एक प्रान्त प्रतीत होता था। सातवीं शती में ह्वेनसाँग ने इस भूभाग में जीती-जागती भारतीय संस्कृति को देखा था।

चीन और भारत

उपर्युक्त प्रदेश से भारतीय संस्कृति और विशेषतः बौद्ध धर्म चीन में पहुँचे। असंख्य भारतवासी चीन से भारत आये। उन्होंने नेपाल, आसाम, बंगाल आदि प्रान्तों में बस कर भारतीय संस्कृति को अपना लिया। भारत से भी अनेक महान् पंडित भारतीय संस्कृति का सन्देश लेकर चीन पहुँचे और वहाँ बस गये। चीन से बौद्ध धर्म के उत्साही अनुयायी अनेक झंझटों रुकावटों, बाधाओं, और संकटों का सामना करते हुए भारत आये, यहाँ बौद्ध विद्यालयों में अध्ययन किया, बौद्ध तीर्थों का दर्शन किया और जाते समय बौद्ध ग्रन्थों और मूर्तियों को अपने साथ लेते गये। भारतीय विद्वानों ने चीन जाकर चीनी भाषा में बौद्ध धर्म के ग्रन्थों का अनुवाद ही नहीं किया, अपितु अनेक ग्रन्थ मौलिक रूप से चीनी भाषा में लिखे। उस समय चीन आने-जाने के दो मार्ग थे—स्थल-मार्ग और जल-मार्ग। स्थल-मार्ग उत्तर-पश्चिम के दर्रों से होकर था। चीन से गोबी की मरुभूमि पार करते हुए लोगों को मध्य एशिया और हिमालय पर्वत पार करना पड़ता था। जल-मार्ग से पूर्वी द्वीप समूहों से होकर लोग भारत आते थे। बीच में हिन्दचीन, जावा, सुमात्रा, मलाया और निकोबार आदि पड़ते थे।

चीन से भारत आने वाले यात्रियों में फाह्यान, ह्वेनसांग और इत्सिग सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं। फाह्यान चौथी शती में भारत आया था। भारत आते समय उसे चीन में बसे हुए प्रकांड पंडित कुमारजीव ने इस प्रकार आदेश दिया—'तुम्हें चीन को भारत का परिचय देना है। भारत में केवल धर्म का ही अध्ययन करते न रह जाना। भारतीय सभ्यता और संस्कृति का सर्वाङ्गीण अध्ययन करना।' उसने पाटलिपुत्र के विद्यालय में अध्ययन किया। भारत के सम्बन्ध में फाह्यान ने रोचक और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा है।

ह्वेनसांग हर्ष के शासन-काल में ७ वीं शती में भारत आया। वह नालन्दा के विश्वविद्यालय में पढ़ कर अन्त में वहाँ का उपाध्यक्ष बन गया। पूरे भारत में भ्रमण करके उसने इस देश के महापण्डितों से विद्या प्राप्त की और लौटते समय बहुत से ग्रन्थ अपने देश ले गया। ह्वेनसाँग के परिचय देने पर हर्ष और चीन के राजा तांग ने एक दूसरे के यहाँ राजदूत भेजे।

इत्सिग ६७१ ई० में चीन से भारत की ओर चला। इत्सिंग ने भी नालन्दा के विश्वविद्यालय में दस वर्ष अध्ययन किया और धार्मिक साहित्य की प्रतिलिपि बनाई। ६९५ ई० में जब वह चीन लौट रहा था, उसके पास ४०० संस्कृत के हस्तलिखित ग्रन्थ थे। उसने एक चीनी-संस्कृत कोष भी बनाया, जिसकी सहायता से चीनी-भिक्षु संस्कृत सीख सकते थे।

भारत से पहली शती ईसवी में धर्मरक्ष और काश्यप मातङ्ग चीन गये। चीन में उन्होंने बौद्ध धर्म के प्रति प्रजा और शासक वर्ग की अभिरुचि उत्पन्न कर दी। ये चीन में ही लो नदी के तट पर बस गये। इनके पश्चात् बौद्ध धर्म का महान् पण्डित और प्रचारक कुमारजीव बन्दी बना कर चौथी शती में

चीन पहुँचाया गया। चीन के प्रधान सेनापति ने कूचियों को परास्त कर उसे युद्ध-बन्दी बना लिया था। कुमारजीव का पिता कुमारायण भारतीय था। वह मध्य एशिया में जाकर कूची-राजवंश का गुरु बना। उसे कूची-राजवंश की कुमारी जीवा से एक पुत्र उत्पन्न हुआ। यही कुमारजीव था। कुमार-जीव की माता उसे लेकर काश्मीर चली आई। यहीं शिक्षा पाकर वह फिर कूची ही लौट गया। वह अपने समय का इतना बड़ा विद्वान् था कि उसके पास खोतान, काशगर और यारकन्द इत्यादि दूर-दूर नगरों के विद्यार्थी और विद्वान् आते थे।

कुमारजीव की चीन में सर्वोत्कृष्ट प्रतिष्ठा हुई। वह बुद्ध के धर्म का अभूतपूर्व पण्डित माना जाता था। उसका चीनी और संस्कृत भाषा पर समान अधिकार था। चीनी भाषा में उसने बौद्ध ग्रन्थों का उत्तम अनुवाद किया।

कुमारजीव का साथ देने वाला बुद्धयश नामक बौद्ध पण्डित भी काश्मीरी ही था। काशगर के राजा ने ३,००० बौद्ध भिक्षुओं को भारत से आमन्त्रित किया था। बुद्धयश इसी संघ में था। अपनी प्रतिभा से वह शीघ्र ही राजा के निकटतम सम्पर्क में आया। उसी समय कुमारजीव भी अपनी शिक्षा समाप्त करके कूची लौटने के मार्ग में काशगर आ पहुँचा। वहीं उसकी बुद्धयश से मैत्री हो गई। कुमारजीव के बन्दी बनकर चीन चले जाने पर कुछ वर्षों के पश्चात् बुद्धयश ने कुमारजीव का साथ देने के लिये काशगर छोड़ दिया और चीन की ओर चल पड़ा। काश्मीरी पण्डित विमलाक्ष भी इसी प्रकार कूची छोड़ कर चीन चला गया और कुमारजीव के साथ काम करने लगा।

काश्मीरी राजवंश के कुमार गुण वर्मा ने काश्मीर का राज-पद स्वीकार नहीं किया। वह लंका और जावा होते हुए चीन

के राजा के द्वारा आमन्त्रित होने पर ४३१ ई० में नानकिङ्ग पहुँचा। महाराज ने स्वयं उसका प्रत्युद्गमन द्वारा स्वागत किया और उसे जेतवन के विहार में प्रतिष्ठित किया। वह उसी वर्ष मर तो गया, पर घोर परिश्रम करके उसने ११ ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया।

काठियावाड़ के महापण्डित धर्मगुप्त ने काबुल के समीप कपिशा नगर में दो वर्ष रह कर चीन का पूरा परिचय यात्रियों से प्राप्त किया। वहाँ से तुखार, बदक्शां, वखन आदि देशों से होते हुए, अनेक पर्वत मालाओं को पैदल ही पार कर काशगर पहुँचा और वहाँ के विहार में दो वर्ष रह कर कूची के बौद्ध विद्वानों के साथ दो वर्ष रहा। ऐसे विकट पथ का पार करता हुआ वह ५९० ई० में चीन पहुँचा। उसने बौद्ध साहित्य के पठन-पाठन के प्रति जनता में नया उत्साह पैदा कर दिया। अनेक ग्रन्थों के अनुवाद जो धर्मगुप्त ने किये अब भी मिलते हैं। उसने सांस्कृतिक दृष्टिकोण से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एक ग्रन्थ की रचना की, जो अभी तक अप्राप्य है। इस ग्रन्थ में उसने अपने देखे हुए सभी देशों का निम्नाङ्कित अध्यायों में वर्णन किया है—पैदावार, जलवायु, घर, रहन-सहन, शासन, रीति-रिवाज, भोजन-पान, वस्त्र, शिक्षा, व्यापार, पर्वत, नदियाँ, नगर और महापुरुष।

मध्य देश का प्रकाण्ड पण्डित प्रभाकर मित्र, जो कुछ समय तक नालन्दा में शिक्षा पाकर वहीं अभिधर्म का आचार्य रहा, राजवंश में उत्पन्न हुआ था। दस वर्ष की अवस्था से ही उसने धार्मिक साहित्य का अध्ययन करना प्रारम्भ किया। वह धर्म का प्रचार करने के लिये बहुत उत्साही और उत्सुक था। वह ६२७ ई० में स्थल-मार्ग से चीन पहुँचा। चीन के महाराज ने

स्वयं ही उसके लिये प्रार्थना की थी। उसके अनुवाद किये हुए अनेक ग्रन्थ अभी तक मिलते हैं।

बोधिरुचि दक्षिण भारत का महान् आचार्य था। वह ६६३ ई० में चीन पहुँचा। उसकी अध्यक्षता में चीनी और भारतीय विद्वानों की समिति बौद्ध दर्शन और धर्म के ग्रन्थों का अनुवाद करने के लिये बनी। इस प्रकार उसने ५३ ग्रन्थों का अनुवाद किया। उसका रत्नकूट का अनुवाद सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण रचना है। स्वयं चीन का महाराज इसके अनुवाद के समय लेखक बन कर सहायता करता था।

वज्रबोधि मध्य-देश के राजा ईशानवर्मा का पुत्र था। वह नालन्दा और वलभी में शिक्षा पाकर लङ्का होते हुए ७२० ई० में चीन पहुँचा। लङ्का के राजा ने महाप्रज्ञापारमिता सूत्र नामक ग्रन्थ को चीन के महाराज के लिये उपहार-स्वरूप भेजा। उपहार के साथ जो विद्वानों की मण्डली गई उसी में वज्रबोधि भी था। वज्रबोधि और उसके शिष्य अमोघवज्र ने योग-मार्ग की ओर चीनी दार्शनिकों को प्रवृत्त किया। इन दोनों ने अनेक ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद भी किया।

दसवीं शती के अन्तिम भाग में अनेक विद्वान् चीन गये। उनमें से धर्मदेव (९७३ ई०) और मंजुश्री (९७१ ई०) का नाम अधिक प्रसिद्ध है। ९८२ ई० से लेकर १०११ ई० तक २०१ नये ग्रन्थों का अनुवाद भारतीय और चीनी विद्वानों ने मिल-जुल कर किया। १०३६ ई० तक भारतीय विद्वानों के चीन जाने के उल्लेख मिलते हैं।

ऊपर चीन और भारत के सम्बन्ध की जो चर्चा की गई है, उसमें धर्म और ज्ञान का प्रसार प्रमुख रहा है। इस दिशा में

राजाओं ने भी पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित किया था। इसके अतिरिक्त राजाओं का राजनीतिक सम्बन्ध भी उस समय था: लङ्का, कपिशा, उड्डीयान, गान्धार, मगध और कश्मीर आदि देशों के राजदूत चीन देश की राज-सभा को अलंकृत करते थे।

कला और विज्ञान के क्षेत्र में भी चीन ने भारत से बहुत कुछ ग्रहण किया। चीन से भारत आने-जाने के मार्ग में बामियन, बैक्ट्रिया, खोतान, मिरान, कुचर, तुर्फान और तुन-हुअङ्ग आदि तत्कालीन प्रसिद्ध स्थानों में भारतीय बौद्ध संस्कृति के विहार, गुफायें, मूर्तियाँ, चित्र आदि मिले हैं।

चीन में तुन-हुअङ्ग, युन-काङ्ग और लाङ्ग-मेन तीन स्थान बौद्ध कला की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण रहे हैं। इन तीनों स्थानों में भारतीय शैली की गुफायें मिलती हैं। इन गुफाओं में बुद्ध की विशाल मूर्तियाँ तथा विविध प्रकार के चित्र बने हुए थे। उस समय के तीन भारतीय चित्राचार्य—शाक्य बुद्ध, बुद्ध कीर्ति और कुमार बोधि ने कई स्थानों पर चित्र बनाये। चीनी चित्रण के सिद्धान्त भारतीय सिद्धान्तों के समान ही हैं।

फाह्यान भारत से केवल हस्तलिखित ग्रन्थों को ही नहीं, अपितु स्वयं ही अनेक मूर्तियों के चित्र बनाकर अपने साथ ले गया। इनके अतिरिक्त वह स्वर्ण, रजत और चन्दन की बनी हुई बुद्ध की कुछ मूर्तियों को भी ले गया। अन्य यात्रियों ने भी उपर्युक्त विधि से भारतीय कलात्मक आदर्श को चीन में ले जाकर प्रतिष्ठित किया। मूर्तिकला का अन्तिम आदर्श अनिको नामक नेपाली मूर्तिकार ने तिब्बत और चीन में प्रतिष्ठित किया। अनिको द्वारा तेरहवीं शती में बनाई हुई मूर्तियाँ राजभवन और विहारों में प्रतिष्ठित हुई। १२७४ ई० में वह चीन के कलाकारों का अध्यक्ष बनाया गया। चीन ने अनिको को

अनेक उपाधियों और पदों से अलंकृत करके उच्च सम्मान और गौरव प्रदान किया।

भारतीय कलाओं में से संगीत को चीन में महती प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। ५८१ ई० में राजकीय महोत्सव के अवसर पर संगीतज्ञों का एक संघ चीन पहुँचा था। कई भारतीय संगीतज्ञ चीन में जाकर वहीं बस गये थे।

भारतीय ज्योतिष और गणित सम्बन्धी प्रगति से चीन को लाभ पहुँचा है। भारतीय ज्योतिर्विद् चीन जाकर वहाँ की राजकीय ज्योतिषियों की समिति के सदस्य बने। सातवीं शती में चांगगन में भारतीय ज्योतिष के तीन प्रचारक-संघ गौतम, काश्यप और कुमार के नेतृत्व में चल रहे थे।

भारतीय आयुर्वेद के ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद हुआ, जिनमें से कई अब भी मिलते हैं। चीन से ह्वेनचाओ नामक विद्वान् भारतीय औषधियों का परिचय प्राप्त करने के लिये चीन के महाराज के द्वारा भेजा गया था।

बृहत्तर भारत

एशिया के दक्षिणी और दक्षिणी पूर्वी देशों में भारतीय संस्कृति का प्रसार तीन प्रकार से हुआ—व्यापार के द्वारा, धर्म प्रचार के द्वारा और साम्राज्य की स्थापना से। ई० पू० तीसरी शती के आसपास लंका, वर्मा और स्याम में भारतवासियों के उपनिवेश बन गये थे। पहली और दूसरी शती के आसपास कम्बोडिया, अनाम (चम्पा), जावा, सुमात्रा, बाली, बोर्नियो और मलाया में भारतीय उपनिवेश बने। ये उपनिवेश प्रायः व्यापारियों के थे; पर इन्हीं व्यापारियों के साथ कुछ धर्म-गुरु

भी जा पहुँचते थे और वे ही शनैः शनैः अपने धर्म का प्रचार करते थे। उनको इन सभी देशों में सफलता मिली।

मलाया प्रायद्वीप में पहली शती ईसवी के पहले ही भारतीय राज्यों की प्रतिष्ठा हुई थी। पहली शती से पाँचवीं शती तक यहाँ कई भारतीय राजवंशों ने राज्य किया। यहीं पर आठवीं शती में शैलेन्द्र राजवंश की प्रतिष्ठा हुई। इस वंश ने आगे चल कर एक महान् साम्राज्य स्थापित किया जो १२ वीं शती तक चलता रहा।

कम्बोडिया में ईसा की प्रथम शती में कौण्डिन्य नामक भारतीय ब्राह्मण ने अपना राज्य स्थापित किया। यह प्रतापशाली राजवंश १५०० वर्षों तक कम्बोडिया में शासन करता रहा। यहाँ का अंगकोरवाट का मन्दिर भारतीय कला का उच्च आदर्श है।

अनाम (चम्पा) में श्रीमार ने दूसरी शती में अपना राज्य स्थापित किया। इस देश में कई भारतीय राजवंशों का राज्य १५ वीं शती तक रहा।

प्राचीन भारतीय राज्यों में जावा (यव द्वीप) की प्रसिद्धि अधिक थी। यहाँ पहली शती ईसवी में भारतीय राज्य की स्थापना हुई। जावा के राजा देव वर्मा ने चीन में अपने राजदूतों को १३२ ई० में भेजा था और राजा संजय ने अनेक देशों को जीत कर बड़े साम्राज्य की स्थापना की। यहाँ का बोरो बुदूर मन्दिर, जो भारतीय वास्तुकला का आदर्श है, संसार में कला के सुन्दरतम आदर्शों में गिना जाता है।

सुमात्रा में ईसवी शती के पहले ही भारतीय उपनिवेश बन चुके थे। यहाँ चौथी शती में श्री विजय नामक राजवंश

की प्रतिष्ठा हुई। श्री विजय-साम्राज्य सातवीं शती तक बहुत विस्तृत हुआ।

बोर्नियो में पाँचवीं शती में भारतीय राज्य की स्थापना हुई। उसी समय से लेकर १४ वीं शती तक यहाँ भारतीय राजाओं का शासन रहा। पाँचवीं शती में इस द्वीप में मूल वर्मा नामक प्रसिद्ध राजा हुआ।

बाली द्वीप में भी भारतीय राज्य की स्थापना ईसवी शती के प्रारम्भिक काल में ही हुई। इस द्वीप में भारतीय संस्कृति का पुरातन स्वरूप सुरक्षित है। यहाँ पर संस्कृत साहित्य के अनेक ग्रन्थ मौलिक और अनुवाद रूप में मिलते हैं।